श्रीभर्तृहरि विरचितं

नीति शृङ्गार वैराग्य

* शतकत्रयम् *

भाषा टीका सहित ।

[जिसमें प्रत्येक शतक के अन्तमें इसी कवि के बनाये परिशिष्ट ललित श्लोक भी छपे हैं]

टीकाकार—

पं० रामचन्द्र पाठक बी. ए.

उसीको

पं० रामेश्वरदत्त पाण्डेयने संशोधन किया

प्रकाशक—

भार्गव पुस्तकालय,

गायघाट बनारस सिटी ।

भूमिका

इस समय नीतिके जितने ग्रन्थ प्रचलित और विख्यात हैं उनमें भर्तृहरिशतक का तीनोंशतक इतना ऊँचा पद प्राप्त किया है कि विद्वानों का नयनाञ्जन होता हुआ सर्वसाधारण के लिये भी कण्ठ हार हो गया है। इस ग्रन्थ की जितनी टीकायें सुगमता के लिये बनीं परन्तु उनसे केवल संस्कृत जानने वाले पण्डितों का ही उपकार हुआ है। ऐसे अनूठे और उत्तम ग्रन्थ का प्रचार सर्वसाधरण में न हो सका इस असुविधा को हटाने के लिये, प्रकाशक को इच्छानुसार सर्व साधारण के उपयोग के निमित्त यह टीका बनाई गई है। इसमें भाषानुवाद अन्वय के अनुसार ऐसी सरल भाषा में की गई है कि विना प्रयत्न के सब लोग इसको समझ सकें। अर्थ को स्पष्ट करने के लिये शब्द और वाक्य ब्रेकेट में दिये गये हैं, और जहां तहां कठिन श्लोकों का भावार्थ भी दिया गया है, इसी पुस्तक को साहित्य व्याकरण शास्त्री पं० रामेश्वर जी ने सुधारकर संशोधन किया है, यदि इस ग्रन्थ से लोगों का कुछ उपकार होगा तो मैं अपने को कृत कृत्य समझूंगा।

विनीत प्रकाशक—

बाबू काशीप्रसाद भार्गव,

विषयानुक्रमणिका नीतिशतकम् ।

इति वैराग्य शतकम् ।

श्रीगणेशाय नमः



भर्तृहरिशतकत्रयम् ।

अथ नीतिशतकम् ।

मंगलाचरणम् ।

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥१॥

उस अनन्त चैतन्य मूर्ति, शान्त और तेजस्वरूप परमेश्वरको नमस्कार है जो सब दिशा और कालमें व्याप्त है और जो केवल स्वानुभवसे ही जाना जा सकता है ॥ १ ॥

अथ अज्ञनिन्दा ।

यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता साप्य
न्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः ॥ अस्मत्कृते

त्र परिशुष्यति काचिदन्याधिक्तां त्र तं च मदनं च इमां च मां च ॥ २ ॥

वह प्रियतमा जिसकी मैं निरन्तर चिन्ता करता हूँ मुझसे विरक्त होकर अन्य पुरुष की इच्छा करती है। वह अन्य पुरुष किसी दूसरी स्त्री पर आसक्त है और वह अन्यस्त्री मेरे लिये प्राण दे रही है, अतएव (मेरी) प्रिया को (जो अन्य पुरुष से प्रीति रखती है) धिक्कार है, इस (अन्य) स्त्री को (जो) मुझ पर आसक्त है) धिक्कार है, मुझको धिक्कार है और उस कामदेव को (जिसकी यह सब प्रेरणा है) धिक्कार है ॥२॥

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि च तं नरं न रञ्जयति॥३॥

मूर्ख सहजमें सन्तुष्ट किया जा सकता है और पंडित तो और भी सहजमें साधनीय है परन्तु अल्पज्ञको ब्रह्मा भी सन्तुष्ट नहीं कर सकते॥३॥

प्रसह्य मणिमुद्धरेन्मकरवक्त्रदंष्ट्रांकुरात् समुद्रमपि संतरेत्प्रचलदूर्मिमालाकुलम् । भुजङ्गमपि कोपितं शिरसि पुष्पवद्धारयेत् न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत् ॥ ४ ॥

यह संभव है कि मनुष्य बल द्वारा मगरके डाढ़ों के

बीच से मणिको निकाल ले, यह भी संभव है कि मनुष्य प्रचण्ड लहरवाले भरे समुद्रको तैर कर पार कर ले, अथवा कोपसे भरे सर्पको शिरपर पुष्पके समान धारण कर ले, परं यह कदापि संभव नहीं कि कोई मूर्खका चित्त, जो किसी वस्तुपर जम गया है, उसे हटा सके॥ ४॥

लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्
पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः॥
कदाचिदपि पर्यटञ्छशविषाणमासादयेत् न तु
प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्॥ ५॥

यत्नसे बालू पेरकर तेल निकालना संभव है, प्यासा कदाचित् मृगतृष्णासे अपनी प्यास बुझाले, ढूँढने से कदाचित् खरगोशकी सींघ भी मिल सके परन्तु मूर्ख का चित्त जिसवस्तुकी ओर झुका है उससे हटाना कदापि संभव नहीं

व्यालं बालमृणालतन्तुभिरसौ रोद्धुं समुज्जृम्भते छेत्तुं वज्रमणीञ्छिरीषकुसुमप्रान्तेनसन्नह्यते। माधुर्यं मधुबिन्दुना रचयितुं क्षाराम्बुधेरीहते नेतुं वाञ्छति यः खलान्पथि सतां सूक्तैः सुधास्यन्दिभिः॥ ६॥

वह पुरुष कोमल कमलकी डंडी के तन्तु से हाथी को

बाँधना चाहता है, हीरेको सिरिसके फूलकी पाँखड़ीसे वेधना चाहता है और मधुके एक बूँदसे खारे समुद्रको मीठा किया चाहता है जो दुष्टोंको अपने अमृत तुल्य वचनोंसे सन्मार्ग में ले जानेकी इच्छा करता है ॥ ६ ॥

स्वायत्तमेकान्तगुणं विधात्रा, विनिर्मितं छादनमज्ञतायाः । विशेषतः सर्वविदां समाजे, विभूषणं मौनमपण्डितानाम् ॥७॥

विधाताने मौन (अर्थात् चुप रहने) को जो पुरुषोंके स्वाधीन किया है और जिसमें अनेक गुण हैं उसे अज्ञानताका ढकना बनाया है और विशेषकर पण्डितोंकी सभा में मौन ही भूषण है ॥ ७ ॥

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विपइव मदान्धःसमभवम् तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः । यदा किञ्चित्किञ्चिद्बुध जनसकाशादवगतम् तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥ ८ ॥

जब मुझे थोड़ा सा ज्ञान था तब मैं हाथीकी नाई मदान्ध था और मेरे चित्तमें यह गर्व था कि मैं सर्वज्ञ हूँ परन्तु जब विद्वानोंकी संगतिसे मुझे कुछ कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ तब मेरा मद ज्वरके समान उतर गया और मुझको ज्ञात हुआ कि मैं मूर्ख हूँ ॥ ८ ॥

कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितम् निरुपमरसं प्रीत्या खादन्नरास्थि निरामिषम्। सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्थं विलोक्य न शङ्कते नहि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम् ॥ ९ ॥

जब कीड़ोंसे व्याप्त, लारसे भींगे, दुर्गन्ध, निन्दित निरस और मांस रहित मनुष्यकी हड्डीको निर्लज्ज कुत्ता प्रेमसे चबाता है और अपने पास इन्द्रको भी खड़े देखकर शंका नहीं करता (तो तात्पर्य यह हुआ कि) नीच पुरुष जिस पदार्थको ग्रहण कर लेता है उसकी निःसारतापर ध्यान नहीं देता ॥ ९ ॥

शिरः शार्वं स्वर्गात्पशुपति शिरस्तः क्षितिधरम् महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम्। अधोधो गंगेयं पदमुपगता स्तोकमथवा विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ॥ १० ॥

यह गङ्गाजी प्रथम स्वर्गसे शिवजीके मस्तक पर गिरीं फिर वहाँसे हिमालय पर्वत पर, और पर्वतसे पृथ्वीपर, और पृथ्वीपर से समुद्रमें इस प्रकार नीचे नीचे ही गिरती गईं। इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि विवेकभ्रष्ट पुरुष भी इसी तरह सौ सौ प्रकारसे अधोगति को ही प्राप्त करते हैं ॥ १० ॥

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो नागेन्द्रो निशिताङ्कुशेन समदो दण्डेन गोगर्दभौ । व्याधिर्भेषजसङ्ग्रहैश्च विविधैर्मन्त्र प्रयोगैर्विषं सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितंमूर्खस्य नास्त्यौषधम् ॥ ११ ॥

जलसे अग्निका, छातेसे सूर्यकी गरमी (धूप) का, तीक्ष्ण अंकुशसे उन्मत हाथीका, डण्डेसे बैल और गदहेका, अनेक प्रकारकी औषधियोंसे व्याधिका और मन्त्र प्रयोगसे विषका निवारण हो सकता है । इस प्रकार शास्त्रोंमें सबकी औषधि कही है परन्तु मूर्खताकी कोई भी औषधि नहीं है ॥ ११ ॥

साहित्यसंगीतकलाविहीनःसाक्षात्पशुःपुच्छ विषाणहीनः । तृणन्न खादन्नपि जीवमानस्त. द्भागधेयं परमं पशूनाम् ॥ १२ ॥

जो मनुष्य साहित्य, संगीत शास्त्र और कलासे विहीन है वह बिना सींग और पोंछका साक्षात् पशु है । वह घास न खाकर जीता है यह उस पशुका परम भाग्य है ॥ १२ ॥

येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः । ते मर्त्यलोके भुवि

भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥ १३ ॥

जिस पुरुषोंको न विद्या है, न तप, न दान है न ज्ञान, न शील है न गुण है और न धर्म है वे मृत्युलोकमें पृथ्वी के भारस्वरूप साक्षात् पशु हैं और मनुष्य रूप धारण करके विचरते हैं ॥ १३ ॥

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह । न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि ॥ १४ ॥

दुर्गम पर्वतोंमें वनचरोंके संग विचरना अच्छा है परन्तु मूर्ख पुरुष का संसर्ग इंद्रभवनमें भी अच्छा नहीं ॥१४॥

इत्यज्ञनिन्दाप्रकरणम् ।



अथ विद्वत्प्रशंसा ।

शास्त्रोपस्कृतशब्दसुन्दरगिरःशिष्यप्रदेयागमा विख्याताःकवयो वसन्तिविषयेयस्यप्रभो र्निर्धनाः॥ तज्ज्राड्य वसुधाधिपस्य कवयो ह्यर्थंविनापीश्वराः कुत्स्याःस्युःकुपरीक्षकाहिमणयोयैरर्घतःपातिताः १५

जब ऐसे सुप्रसिद्ध कवि जिनकी वाणीको शास्त्रोक्त शब्दोंने सुन्दर किया है और जिनकी विद्या शिष्यों के

पढ़ाने योग्य है किसी राजाके देशमें निर्धन रहते हैं तो यह जड़ता राजाकी ही है। कवि लोग तो विना धनके ही राजा हैं। वे जवाहिरी कुत्सित हैं जो मणिका मूल्य (विना परीक्षा किये) घटाते हैं न कि मणि (खोटे हैं जिनको वे परखते हैं) ॥ १५ ॥

हर्तुर्याति न गोचरं किमति शं पुष्णाति यत्सर्वदा ह्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिं पराम्। कल्पांतेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमन्तर्धनम् येषां तान्प्रति मानमुज्झित नृपाः कस्तैःसह स्पर्धते ॥ १६ ॥

जिनके पास विद्यारूपी धन है जो चोर को देख नहीं पड़ता, जो सर्वदा सुखकी वृद्धि करता है, जो अर्थीको देने से परम वृद्धिको प्राप्त होता है और जिसका कल्पान्तमें भी नाश नहीं होता उनसे हे राजा लोग! कभी अभिमान मत करो क्योंकि उनके समान संसारमें कौन है? ॥ १६ ॥

अधिगतपरमार्थान्पण्डितान्मावमंस्था तृणमिव लघु लक्ष्मीर्नैव तान्संरुणद्धि। अभि नवमदलेखाश्यामगण्डस्थलानाम् न भवति विसतन्तुर्वारणं वारणानाम् ॥ १७ ॥

जिन पण्डितोंने मोक्ष का ज्ञान प्राप्तकर लिया है उनका अपमान मत करो । तृणके समान तुम्हारी लघु लक्ष्मी उनको नहीं रोक सकती जैसे नवीन मदधारासे शोभायमान श्याम मस्तकवाले हाथी को कमल की डंडी का तन्तु नहीं रोक सकता ॥ १७ ॥

अम्भोजिनी वननिवासविलासमेव हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता । न त्वस्य दुग्ध जलभेदविधौ प्रसिद्धां वैदग्ध्यकीर्तिमपहर्तु मसौ समर्थः ॥१८॥

विधाता यदि क्रोध करे तो हंसका कमलके वनोंमें विहार और वहाँका विलास नाश कर सकता है परन्तु उसके दूध और पानी अलग करनेकी प्रसिद्ध कीर्तिको विधाताभी नष्ट नहीं कर सकता [तात्पर्य यह है कि किसीका गुण कोई छीन नहीं सकता] ॥ १८ ॥

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चंद्रोज्ज्वला न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्द्धजाः । वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते क्षीयंते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ॥१९॥

जोपुरुषकी शोभा न तो केयूरसेअर्थात् बाहुभूषण(बाजू बैरखी इत्यादि) से होती है और न चन्द्रके समान उज्ज्वल हारसे, न स्नानसे या उपटनसे, न पुष्पोंका शृंगार करनेसे और न बालोंके सँवारनेसे केवल संस्कारयुक्त धारण की हुई वाणी ही पुरुषको शोभित करती है। और सब आभूषण अवश्य क्षयको प्राप्त होते हैं परन्तु केवलवाक् भूषणही पुरुष का सच्चा भूषण है [जो कदापि नाश नहीं होता] ॥१६॥

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं
विद्या राजकरी यशः सुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बंधुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता
विद्या राजसु पूजिता न हि धनं विद्याविहीनः
पशुः ॥२०।

विद्या ही मनुष्यका अधिक स्वरूप और अच्छी तरहसे छिपा हुआ धन है, विद्या ही भोग राज यश और सुख देने-वाली है और गुरुओंकी गुरू है। विदेश गमनमें विद्या ही परम देवता है। राजाओंमें विद्या ही पूज्य है धन नहीं। जिसमें विद्या नहीं है वह पशु है ॥ २० ॥

क्षान्तिश्चेद्वचनेन किं किमरिभिः क्रोधोस्ति चेद्देहिनाम् ज्ञातिश्चेदनलेन किं यदि सुहृद्दिव्यौषधैः किं फलम्। किं सर्पैर्यदि दुर्जनः किमु धनै

विद्याऽनवद्या यदि व्रीडा चेत्किमु भूषणैः सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम् ॥२१॥

जिस पुरुषको क्षमा है उसे कवचकी (अपनेको दुष्टसे बचानेके लिये) क्या आवश्यकता है क्रोध है, तो शत्रु की क्या आवश्यकता है (अर्थात् शत्रु की नाईं क्रोध उसकानाश करनेमें समर्थ है), ज्ञाति है तो अग्निका क्या काम (अर्थात् जातिके लोग अग्निके समान भस्म करनेकी शक्ति रखते हैं) इष्ट मित्र समीप हैं तो दिव्य औषधियोंका क्या प्रयोजन, दुर्जनोंसे संगति है तो सर्पका क्या प्रयोजन, निर्दोष विद्या है तो और धनसे क्या प्रयोजन, लज्जा है अन्य भूषणोंसे क्या काम, और जिसकी सुन्दर कविता है उसके सामने राज्य क्या है ? ॥ २१ ॥

दाक्षिण्यं स्वजने दया परजने शाठ्यं सदा दुर्जने प्रीतिः साधुजने नयो नृपजने विद्वज्जनेष्वार्जवम् । शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने नारीजने धूर्तता ये चैवं पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः ॥२२॥

इस संसारकी स्थिति उन्हीं लोगोंपर निर्भर है जो इन कलाओं में निपुण हैं—अपने कुटुम्बियोंपर उदारता, पर जनोंपर दया, दुर्जनसे सदा शठता, सज्जनोंसे प्रीति, राजं

सभामें नीति, विद्वानोंसे नम्रता, शत्रुजनसे शूरता, बड़े लोगोंसे क्षमा, और स्त्रियोंसे धूर्तता ॥ २२ ॥

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति। चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं सत्सङ्गतिः कथय किन्न करोति पुंसाम् ॥२३॥

सज्जनोंकी संगति बुद्धिकी जड़ता (अज्ञानताको नाश करती है, वाणी को सत्यसे सींचती है, मान और उन्नतिको देती है, पापको दूर करती है, चित्तको प्रसन्न करती और दिशाओंमें कीर्तिको फैलाती है, कहो यह मनुष्यों के लिये क्या नहीं करती ? ॥ २३ ॥

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः। नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ॥२४॥

धन्य हैं पुण्यात्मा कवीश्वर जिन्होंने रसोंको सिद्ध किया, (जो सब रसोंमें प्रवीण हैं) जिनकी यश रूपी कायाको बुढ़ापा और मृत्युका भय नहीं है ॥ २४ ॥

सूनुः सच्चरितः सती प्रियतमा स्वामी प्रसादोन्मुखः स्निग्धं मित्रमवञ्चकः परिजनो निःक्लेशलेशं मनः। आकारो रुचिरः स्थिरश्च विभवो

विद्यावदातं मुखं तुष्टे विष्टपहारिणीष्टदहरौ संप्राप्यते देहिनाम् ।.५ ।

जिन प्राणियोंपर सब मनोरथ देनेवाले स्वर्गनिवासी नारायण प्रसन्न होते हैं उनको ये सब प्राप्त होते हैं-सुन्दर पुत्र पतिव्रता स्त्री, अनुग्रह करनेवाला स्वामी, प्रेमी मित्र, धोखा न देनेवाला कुटुम्बी, क्लेश रहित मन, सुन्दर स्वरूप स्थिर संपत्ति, और विद्यासे सुशोभित मुख ॥ २५ ॥

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्य वाक्यं काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथा मूक भावः परेषाम् । तृष्णास्रोतोविभङ्गो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा सामान्यः सर्वशास्त्रेष्व नुपहतविधिः श्रेयसामेषपन्थाः

प्राण हत्या से निवृत्त रहना, परायेके धनहरण से संयमे रखना, सच बोलना, समय पर यथाशक्ति दान देना दूसरों की स्त्रीकी कथामें चुप रहना, तृष्णाके प्रवाहको तोड़ना, बड़े लोगोंसे नम्रता करना, प्राणि मात्रपर दया करना, येही कल्याण कारक मार्ग सब शास्त्रोंमें सामान्य हैं जिनकी विधि कदापि भंग नहीं होती ॥ २६ ॥

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः प्रारभ्य

विघ्नविहिता विरमन्ति मध्याः। विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ॥२७॥

नीच पुरुष विघ्नके भयसे कार्यको प्रारम्भ ही नहीं करते, मध्यम जन आरंभ करते हैं पर विघ्न होते ही छोड़ देते हैं, परन्तु उत्तमजन वारंवार विघ्न होनेपर भी आरंभ किये हुए कार्य को (विना पूरा किये) नहीं छोड़ते ॥२७॥

प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरमत्वसन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यः कृशधनः। विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयं च महतां सतां केनोद्दिष्टं विषम मसिधारा व्रतमिदम् ॥ ॥

न्याय युक्त प्रिय वृत्ति, प्राण जाने पर भी पाप कर्म में न प्रवृत्त होना, दुष्टोंसे, अथवा अल्प धनवाले मित्रसे भी कुछ याचना न करना, विपदमें उच्चपदसे रहना, और श्रेष्ठ लोगोंके आचरणको धारण किये रहना, सज्जनों को तरवारकी धारसे भी कठोर व्रत किसने सिखाया है?॥२८॥

इति विद्वत्प्रशंसा।



अथमानशौर्यप्रशंसा।

क्षुत्क्षामोपि जराकृशोऽपि शिथिलप्रायोपि कष्टां दशामापन्नोपि विपन्नदीधितिरपि प्राणेषु नश्यत्स्वपि। मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भकवलग्रासैकबद्धस्पृहः किंजीर्णं तृणमत्ति मानमहतामग्रेसरः केसरी ॥२६॥

भूखके मारे दुर्बल, बुढ़ापेसे दुःखी, शक्तिहीन, कष्ट दशाको प्राप्त, तेजहीन और प्राणनाश होनेपर भी उन्मत्त गजराज के विदीर्ण मस्तकके ग्रासकी सदा अभिलाषा करने वाला अभिमान के कारण (जन्तुओंमें) अग्रगण्यसिंह क्या कभी सूखी घास खायगा? (तात्पर्य यह है कि उत्तम पुरुषोंसे नीच कार्य कदापि नहीं हो सकता) ॥२६॥

स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिनं निर्मांसमप्यस्थिकंश्वालब्ध्वा परितोषमेति नतु तत्तस्य क्षुधा शान्तये। सिंहो जंबुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा निहिन्ति द्विपम् सर्वः कृच्छ्रगतोपि वाञ्छति जनः सत्वानुरूपं फलम् ॥३०॥

नाम मात्रकी चर्बी लगा हुआ, मांसरहित और मलिन छोटेसे हड्डी के टुकड़े को पाकर कुत्ता प्रसन्न हो जाता है,

यद्यपि इससे उसकी भूख नहीं जाती। परन्तु गोदमें आये स्यार को छोड़कर सिंह हाथीको जाकर मारता है (इससे यह सिद्ध हुआ कि) समस्त जन चाहे कैसे भी दुःख में होवे परन्तु अपने पुरुषार्थके अनुसार फल पानेकी इच्छा करते हैं ॥ ३० ॥

लाङ्गूलचालनमधश्चरणावपातं भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनंच। श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुङ्गवस्तु धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते ॥३१॥

कुत्ता टुकड़ा देनेवालेके आगे पोंछ हिलाकर, पैरोंपर सिर झुकाकर, पृथ्वीपर लोट कर, पेट और मुंह दिखलाता है (अर्थात् दीनता प्रगट करता है) और गजराज अपने आहार देनेवालेकी ओर एक वार गंभीरतासे देखता और सौ सौ मीठी बातें करने पर भोजन करता है। (सारांश यह है कि उत्तमजन प्रार्थना करने पर भी एकाएक किसी वस्तुको अंगीकार नहीं करते) ॥ ३१ ॥

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते। सजातो येनजातेनजाति वंशःसमुन्नतिम् ॥३२॥

इस (चक्रकी नाई) घूमते हुए संसारमें मरके कौन नहीं जन्म पाता (अर्थात् सभी जन्म पाते हैं) परन्तु वही

पुरुष जगत्में जन्मा (अर्थात् उसी पुरुषका जन्म सुफल है) जिसके जन्मसे वंशकी उन्नति हो ॥ ३२ ॥

कुसुमस्तवकस्येव द्वयीवृत्तिर्मनस्विनः । मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य विशीर्येत वनेऽथवा ॥ ३३ ॥

श्रेष्ट पुरुषोंकी वृत्ति फूलके गुच्छेकी नाईं दो प्रकार की होती है या तो वे सब लोगों के मस्तक ही पर सुशोभित होते हैं अथवा वन ही में सूख कर नष्ट हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

सन्त्यन्येऽपि बृहस्पतिप्रभृतयः संभाविताः पञ्च पास्तान्प्रत्येष विशेषविक्रमरुची राहुर्न वैरायते । द्वावेव ग्रसते दिनेश्वरनिशाप्राणेश्वरौ भासुरौ भ्रातः पर्वणि पश्य दानवपतिः शीर्षावशेषीकृतः ॥

पराक्रममें विशेष रूचि रखनेवाला राहु बृहस्पति इत्यादि पाँच छः श्रेष्ठ ग्रहोंसे वैर नहीं रखता । हे भाइयो ! देखो कि अमावस और पुनवासीके दिन दानव पति राहु शिर मात्र रह जानेपर तेजस्वी सूर्य और चंद्रमाकोही ग्रसता है । (तात्पर्य यह है कि सच्चे वीर अपने बराबरवालेका सामना करते हैं, और निर्बलको कष्ट नहीं देते) ॥ ३४ ॥

वहति भुवन श्रेणीं शेषः फणाफणकस्थितां

कमठपतिना मध्येपृष्ठं सदा स विधार्यते । तमपि कुरुते क्रोडाधीनं पयोधिरनादरादहह महता निःसीमानश्चरित्रविभूतयः ॥ २५ ॥

भुवनोंकी पंक्तिको शेषनाग अपने चौंडे फणपर धारण किये हैं और कच्छपजी उन शेषजी को अपनी पीठपर धारण किये हैं तथा उन कच्छपजी को समुद्रने अनादर से शूकर (वराह जी) के आधीन किया है । अहो ! महान् पुरुषों के चरित्र की विभूति सीमा रहित है ॥ २५ ॥

वरं पक्षच्छेदः समदमघवन्मुक्तकुलिशप्रहारैरुद्गच्छद्बहलदहनोद्गारगुरुभिः । तुषाराद्रेः सूनोरहह पितरि क्लेशविवशे नचासौ सम्पातः पयसि पयसां पत्युरुचितः ॥ २६ ॥

(मदमें भरे इन्द्रके चलाये वज्रके प्रहारसे, जो अत्यन्त प्रज्वलित अग्निकी ज्वाला के समान था, उससे मैनाकका पंख कट कर मर जाना भला था परन्तु ओह ! उनको यह उचित न था कि अपने पिता हिमाचलको क्लेश विवश (पक्षहीन) छोड़ समुद्र में कूदकर अपने पंख बचावे [सारांश यह कि—पराक्रमी पुरुष वह है जो स्वयं दुःख में पड़कर भी दूसरों के क्लेश निवारण का प्रयत्न करता है]

यदचेतनोपि पादैःस्पृष्टः प्रज्वलति सवितुरिनकान्तः ।। तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतविकृतिं कथं सहते ।। ३७ ।।

अचेतन (प्राणरहित) होने पर भी सूर्यकान्त मणि सूर्यके किरण रूपी पाँवकी छूनेसे जल उठता है, तो तेजस्वी पुरुष (जो सचेतन हैं) दूसरोंके अनादर को कैसे सह सकते हैं ।। ३७ ।।

सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु प्रकृतिरियं सत्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः ।। ३८ ।।

सिंहका बच्चा भी मद्से मलिन कपोलवाले गजपर ही आक्रमण करता है क्योंकि तेजस्वियों का यह स्वभाव ही है । तेजका हेतु कुछ अवस्था नहीं होता ।। ३८ ।।

इति मानशौर्य प्रशंसा ।



अथ द्रव्यप्रशंसा ।

जातिर्यातु रसातलं गुणगणस्तस्याप्यधो गच्छतु शीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः सन्दह्यतां वह्निना शौर्य वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तुनः

केवलं येनकैन विना गुणास्तृणलवप्रायाः समस्ता इमे ॥ ३६ ॥

चाहे जाति रसातल में चली जावे, सब उत्तम गुण उससे भी नीचे चले जाँय, शीलता पर्वत से गिरकर नाश को प्राप्त होवे, कुलीनता अग्निसे जल जाय, और शूरता रूपी शत्रु पर वज्र गिर पड़े परन्तु हमको केवल द्रव्य ही से काम है जिसके विना सब गुण तृणके टुकड़ेके समान हैं ३६

तानिन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव। अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव त्वन्यः क्षणेन भवतीतिविचित्रमेतत्

अविकल संपूर्ण इन्द्रियां वही हैं, वही नाम है, वही प्रबल बुद्धि भी है, वचन भी है परन्तु बड़ा आश्चर्य है कि वही पुरुष द्रव्यकी उष्णता के विना एक क्षणमें और का और ही हो जाता है ॥ ४० ॥

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः स पण्डितः सः श्रुतवान्गुणज्ञः ॥ स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वैः गुणा काञ्चनमाश्रयन्ते ॥ ४१ ॥

जिसके पास धन है वही मनुष्य कुलीन, पंडित, शास्त्रज्ञ, गुणज्ञ, वक्ता, और दर्शन योग्य है। तात्पर्य यह कि सब गुण सुवर्ण (धन) के ही आश्रित हैं ॥ ४१ ॥

दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यतियतिः संगात्सुतो ला नाद्विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलो पासनात्। ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः प्रवासाश्रयान्मैत्री चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्त्यागा त्प्रमादाद्धनम् ४२

दुष्ट मंत्रियों की सलाहसे राजा नष्ट हो जाते हैं, संगतिसे तपस्वी, दुलारसे पुत्र, विद्या न पढ़नेसे ब्राह्मण, कुपूत से कुल, दुष्टकी सेवा से शील, मद्य पीनेसे लज्जा, विना देखे भाले खेती, परदेशमें रहने से स्नेह, अन्याय से मैत्री, अनीतिसे वृद्धि, और प्रमाद पूर्वक (असावधानतासे) व्यय करने से धनका नाश होता है ॥ ४२ ॥

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य। यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥ ४३ ॥

दान, भोग और नाश यही धनकी तीन गति हैं। जो न दान देता है और न धनको अपने उपभोगमें लाता है उसके धन की नाशरूपी तीसरी गति होती है ॥ ४३ ॥

मणिःशाणोल्लीढः समरविजयी हेतिनिहतो मदक्षीणो नागः शरदि सरितः श्यानपुलिनाः।

कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालवनिता । तनि म्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु जनाः ॥४४॥

सानपर खरादा हुआ मणि, लड़ाई में जीतने वाला शस्त्रों से घायल हुवा वीर, मदसे उतरा हुवा हाथी, शरद् ऋतुकी बालू मय तीरवाली सूखी नदी, द्वितीयाका चंद्रमा, काम क्रीड़ामें मर्दन की हुई बाला स्त्री और अति दान देने से दरिद्री भया हुवा पुरुष इन सब की दुर्बलता ही से शोभा है ॥ ४४ ॥

परिक्षीणः कश्चित्स्पृहयति यवानां प्रसृतये स पश्चात्संपूर्णो गणयति धरित्रीं तृणसमाम् । अतश्चानैकान्त्याद्गुरुलघुतयार्थेषु धनिना मव स्था वस्तूनि प्रथयति च संकोचयति च ॥४५॥

जब कोई दरिद्र होता है तब वह केवल एक पसर जव की इच्छा करता है और वही पुरुष जब संपन्न हो जाता है तो संसारको तृणवत् गिनता है अतएव येही दोनों चंचल अवस्था पुरुषको गुरु और लघु बनाती हैं और वस्तु (के भी मूल्य) फैलाती और सिकोड़ती हैं ॥ ४५ ॥

राजन्दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेतो तेनाद्य वत्समिव लोकममुं पापुण। तस्मिंश्च सम्यगनिशं

परिपोष्यमाणे नानाफलैः फलति कल्पलतेव भूमिः

हे राजन्! यदि तुम इस पृथ्वी रूपी गौको दुहना चाहते हो तो पहिले अपने प्रजा रूपी बछड़ेका पोषण करो।। जब प्रजाका भली भाँति पालन किया जायगा तभी पृथ्वी कल्पलताके समान अनेक प्रकारके फलोंको देगी ॥ ४६ ॥

सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या॥ नित्यव्यया प्रचुरनित्यधनागमा च वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा॥ ४७॥

राजनीति वेश्याके समान राजसभामे अनेक रूप धारण करती है—कही सत्य होती है कहीं असत्य, कहीं कठोर और कहीं प्रिय बोलनेवाली, कहीं हिंसा करनेवाली और कहीं दयालु, कहीं लोभी और कहीं उदार, कभी बहुतसा धन लुटानेवाली और कभी बहुत संचय करने वाली ॥ ४७ ॥

आज्ञा कीर्तिः पालनं ब्राह्मणानां दानं भोगो मित्रसंरक्षणं च। येषामेते षड्गुणा न प्रवृत्ताः कोऽर्थस्तेषां पार्थिवोपाश्रयेण ॥ ४८ ॥

आज्ञा करनेकी शक्ति, कीर्ति, ब्राह्मणोंका पालन, दान भोग और मित्रोंकी रक्षा, जिनमें ये छ गुण विद्यमान नहीं हैं उनको राजाकी सेवाका क्या फल है ॥ ४८ ॥

यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं स्तोकं महद्वा धनं तत्प्राप्नोति मरुस्थलेऽपि नितरां मेरौ ततो नाधिकम्। तद्धीरो भव वित्तवत्सु कृपणां वृत्तिं वृथा मा कृथाः कूपे पश्य पयोनिधावपि घटो गृह्णाति तुल्यं जलम् ॥ ४९ ॥

विधाताने थोड़ा या बहुत जितना धन भाग्यमें लिख दिया है उतना अवश्य ही मरुस्थल (मारवाड़का भूमि) में भी मिल जायगा उससे अधिक सुमेरु पर्वतपर भी जाने मे न मिलेगा: अतएव धैर्य धरो और धनिकसे वृथा अपनी दीनता मत प्रगट करो। देखो घड़ा कूप और समुद्रमें समान ही जल ग्रहण करता है ॥ ४९ ॥

त्वमेव चातकाधारोऽसीति केषां न गोचरः। किमम्भोदवरास्माकं कार्पण्योक्तिः प्रतीक्ष्यसे ॥५०॥

हे श्रेष्ठ मेघ! यह कौन नहीं जानता कि-तुहीं हम चातकों के आधार हो तब क्यों तुम हमारी दीनता की प्रतीक्षा करते हो? ॥ ५० ॥

रेरे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयतामम्भोदा बहवो हि सन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः। केचिद्वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति के

द्वृथा यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः ॥ ५१ ॥

अरे मित्र चातक ! सावधान मनसे क्षण भर मेरी बातें सुन ले । आकाशमें मेघ बहुतेरे हैं पर सब ऐसे नहीं हैं (जो मेरी प्रर्थनाको स्वीकार करेंगे) कितने तो बरस कर पृथ्वीको भर देते हैं और कितने व्यर्थ ही गरज कर चले जाते हैं । अतएव जिस जिसको तू देखे प्रत्येकसे दीनताके वाक्य मत कह ॥ ५१ ॥

इति द्रव्यप्रशंसा ।

—:—

अथ दुर्जननिन्दा

अकरुणत्वमकारणविग्रहः परधने परयोषिति च स्पृहा । सुजनबन्धुजनेष्वसहिष्णुता प्रकृतिसिद्धमिदं हि दुरात्मनाम् ॥ ५२ ॥

दया न करना, विना कारण द्वेष करना, पराये धन और स्त्रीकी इच्छा करना, सज्जन और अपने बन्धुजनसे ईर्षा ये सब दुर्जनके स्वभाविक लक्षण हैं ॥ ५६ ॥

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्यया भूषितोऽपि सन् । मणिनालंकृतः सर्पः किमसौ न भयङ्करः ॥ ५३ ॥

दुर्जन यदि विद्यासे भी भूषित हो तौ भी वह परित्याग

केही योग्य हैं। क्या मणिसे भूषित सर्प भयंकर नहीं होता ?॥ ५३ ॥

जाड्यं हीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भः शुचौ कैतवं शूरे निर्घृणता मुनौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनी। तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तर्यशक्तिः स्थिरे तत्कोनाम गुणो भवेत्स गुणिनां यो दुर्जनैर्नाङ्कितः ॥ ५४ ॥

दुर्जनलोग लज्जावानको जड़, व्रतधारीको दंभी, पवित्रको पाखंडी, शूरको निर्दयी, मुनिको मूर्ख, प्रियभाषी को दीन, तेजस्वीको घमंडी, वक्ताको बकवादी और स्थिर चित्त वाले को आलसी कहते हैं। गुणियोंमें कौनसा ऐसा गुण है कि जिसको दुष्ट लोग कलंक नहीं लगाते ?॥ ५४ ॥

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम्। सौजन्यं यदि किं जनैः सुमहिमा यद्यस्ति किं मंडनैः सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना ॥ ५५ ॥

जिसमे लोभ है उसमें फिर और अवगुण क्या चाहिये जो कुटिल है उसको और पातक करनेका क्या प्रयोजन,

सत्य है तो तपकी क्या आवश्यकता, मन शुद्ध है तो तीर्थ (यात्रा) करनेसे अधि क्या होगा, जो सज्जन हैं उन्हें मित्र और कुटुम्बियोंकी क्या कमी है, यशस्वीको कीर्तिसे बढ़ कर क्या भूषण है, सद्विद्या है तो अन्य धनकी क्या आवश्यकता है, और जिसको अपयश है उसको मृत्यु पानेपर भी क्या होगा ? (अर्थात् मरनेपर भी अपयशका कलंक मिट नहीं सकता) ॥ ५५ ॥

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः । प्रभुर्धनपरायणाः सततदुर्गतः सज्जनो नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानिमे ॥ ५६ ॥

दिनका मलीन चंद्रमा, यौवनहीन सुन्दर स्त्री कमलहीन सरोवर, सुन्दर रूपवान् पुरुषका अक्षरहीन मुख, धनी कृपण सज्जन दरिद्री और राज सभामें मास दुष्टये सातों हमारे मनको कांटेके समान खटकते हैं ॥ ५६ ॥

न कश्चिच्चण्डकोपानामात्मीयो नाम भूभुजाम् । होतारमपि जुह्वानं स्पृष्टो दहति पावकः ॥

अति क्रोधी राजाओंका कोई भी प्रिय नहीं होता । अग्नि होम करने वालेको भी छू पानेपर जला देती है ॥५७॥

मौनान्मूकः प्रवचनपटुश्चाटुलो जल्पको वा

धृष्टः पार्श्वे वसति च तदा दूरतश्चाप्रगल्भः । क्षा न्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः से वा धर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ ५ ॥

सेवा धर्म अत्यन्त कठिन है और योगियोंसे होना दुर्गम है क्योंकि यदि सेवक मौन रहे तो गूंगा, बोल चालमें चतुर होतो बकवादी, समीप रहे तो ढीठ, दूर रहे तो मूर्ख, सहनशील होतो डरपोंक, और सहनशील नहो तो कुलहीन कहा जाता है ॥ ५८ ॥

उद्भासिताखिलखलस्य विशृङ्खलस्य प्राग्जात विस्मृतनिजाधमकर्मवृत्तेः । दैवादवाप्तविभवस्य गुणद्विषोऽस्य नीचस्य गोचरगतैः सुखमास्यते कैः

ऐसे निरंकुश दुष्टके समीप कौन सुखपूर्वकरह सकता है जो सद्गुणोंसे द्वेष रखता है, जिसने दैवसे विभव पाया हैं, जिसकी दुष्टता भली भाँति प्रगट हो गई है और जिसके पूर्व जन्मके किये हुए अधम कर्म इस जन्ममें उदय हो रहे हैं ॥ ५९ ॥

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण लध्वी पुरा वृ द्धिमती च पश्चात् । दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्द्धभिन्ना छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥ ६० ॥

दुष्ट और सज्जेन मैत्री दिनके पूर्वार्ध (प्रातःकालसे दोपहर तक) और उत्तरार्ध (दोपहरसे लेकर संध्या तक) छायाकी नाई है। दुष्टकी मैत्री आरंभमें लंबी चौड़ी और फिर क्रमसे घटती जाती हैं, परन्तु सज्जनों की पहले थोड़ी और फिर क्रमसे वृद्धिको प्राप्त होती है ॥ ६० ॥

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनाम्।लुब्धकधीवरपिशुनांनिष्कारणवैरिणो जगति

इस संसारमें मृग घास खाकर, मछली जल पीकर और सज्जन लोग संतोष करके अपना जीवन व्यतीत करते हैं पर विना कारण ही इनसे वहेलिये (मृगसे,) मछुवे (मछलीसे) और दुष्ट (सज्जनोंसे) शत्रुता करतेहैं ॥६१॥

इति दुर्जननिन्दा ।



अथ सुजनप्रशंसा ।

वाञ्छा सज्जनसङ्गमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद्भयम् । भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले एते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः ॥ ६२ ॥

उन पुरुषोंको नमस्कार है जिसमें ये (नीचे लिखे) दिव्य गुण विद्यमान हैंः—सज्जनोंके संगकी इच्छा दूसरेके गुणोंमें प्रीति, बड़े लोगोंसे नम्रता, विद्यामें व्यसन, अपनी ही स्त्रीमें प्रीति, लोकनिन्दासे भय, महादेवजीमें भक्ती, आत्मदमन (अपने मनको वशमें रखने) की शक्ति, और दुष्ट संगका त्याग ॥ ६२ ॥

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा सदसि वाक्पटु
ता युधि विक्रमः । यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रु
तौ प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥ ६३ ॥

आपत्तिमें धैर्य, ऐश्वर्यमें क्षमा, सभामें वचनकी चतुराई युद्धमें पराक्रम, यशमें प्रीति और शास्त्रके अध्ययनकी उत्कट इच्छा—ये सब गुण महात्माओंमें स्वभावसे ही रहते हैं ॥६३॥

प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते सम्भ्रमविधिः प्रि
यं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाप्युपकृतेः। अनु
त्सेको लक्ष्म्यां निरभिभवसाराः परकथाः सतां के
नोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥ ६४ ॥

दानको गुप्त रखना, गृहपर आये हुए पुरुषका सम्मान करना, किसीका भला करके मौन रहना (अर्थात् दूसरोंसे अपनी की हुई भलाइ की चर्चा न करना,) दूसरोंके किये

हुए-उपकारको सभामें कहना, धन पाकर अभिमान न करना और परायेकी चर्चा उसकी निन्दा रहित करना—यह तरवार की धारके समान कठिन व्रत सज्जनों को किसने सिखाया है? ॥ ६४ ॥

करे श्लाध्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणयिता
मुखे सत्या वाणी विजयिभुजयोर्वीर्यमतुलम् ।
हृदिस्वच्छा वृत्तिः श्रुतमधिगतं च श्रवणयोर्वि
नाप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मण्डनमिदम् ॥ ६५ ॥

हाथकी शोभा दान देनेसे और मस्तककी वड़ोंके चरण पर गिरने से है, मुखकी शोभा सत्य बोलनेसे और दोनो भुजाओंकी अतुल पराक्रमसे है, हृदयकी शोभा स्वच्छ वृत्तिसे और कानकी शास्त्रका श्रवण करनेसे हैं। जो लोग स्वभावसे ही सत्पुरुष हैं उनके यही सब विना ऐश्वर्य के भी आभूषण हैं ॥ ६५ ॥

सम्पत्सु महतां चित्तं भवत्युत्पलकोमलम् ।
आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम् ॥६६॥

महात्मा लोगोंका चित्त संपत्ति होनेपर कलमकी नाईं कोमल होता है। परन्तु आपत्तिमें पर्वतकी वड़ी शिलाके समान कठोर हो जाता है ॥ ६६ ॥

संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते ।। स्वात्यांसागरशुक्ति मध्यपतितं तन्मौक्तिकं जायते प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणाः संसर्गतो जायते ।। ६७ ।।

पानीका बूँद तपे हुए लोहेपर पड़नेसे नाम मात्र भी नहीं रह जाता वही बूँद कलम पत्रपर गिरनेसे मोतीके समान शोभायमान होता है और वही (जल) बिन्दु) स्वाति नक्षत्रमें समुद्रके सोपोंमें पड़कर मोती हो जाता है । (इससे यह ज्ञात हुआ कि) प्रायः संसर्गसे ही सबके गुण अधम, मध्यम अथवा उत्तम हो जाते हैं ।। ६७ ।।

यः प्रीणयेत्सुचरितैः पितरं स पुत्रो यद्भर्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम् । तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं यदेतत्त्रयं जगति पुण्यकृतो लभन्ते ।।

वही (यथार्थमें) पुत्र है जो पिताको अपने अच्छे चरित्रोंसे प्रसन्न करता है, वही पत्नी है जो अपने पतिका निरंतर हित चाहती है, वही मित्र है जो सुख तथा दुखमें समान वर्ताव रक्खे । इस संसारमें केवल पुण्यवान्को ही ये तीनों मिलते हैं ।। ६८ ।।

एको देवः केशवो वा शिवो वा एकं मित्रं भूपतिर्वा यतिर्वा । एको वासः पत्तने वा वने वा एका नारी सुन्दरी वा दरी वा ॥ ६९ ॥

एकही देवकी सेवा करना चाहिये चाहे केशव हो अथवा शिव हो, एकही को मित्र बनाना उचित है वह राजा हो या सन्यासी, एकही स्थानमें वास करना उचित हैं चाहे नगरमें वा वनमें, एक ही से प्रीति करना चाहिये चाहे वह सुन्दर स्त्री हो अथवा गुफा ॥ ६९ ॥

नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुणकथनैः स्वान्गुणान्ख्यापयन्तः स्वार्थान्सम्पादयन्तो विततपृथुतरारम्भयत्नाः परार्थैः । क्षान्त्यैवाक्षेपरूक्षाक्षरमुखरमुखान्दुर्जनान्दूषयन्तः सन्तःसाश्चर्यचर्या जगति बहुमताः कस्य नाभ्यर्चनीया ॥ ७० ॥

इस संसार में ऐसे अद्भुत आचरण वाले सज्जन लोग किसको पूजनीय नहीं होते जो नम्रतासे ऊँचे होते हैं, जो दूसरोंके गुण कथनसे अपनेको प्रसिद्ध करते हैं, जो विस्तार पूर्वक दूसरोंका कार्य करके अपना कार्य सम्पादन करते हैं, जो अपनी क्षमाही से उन दुष्टोंकी निन्दाको दूषित करते हैं जिनके मुख कठोर वचनोंसे पूरिपूर्ण हैं ॥ ७० ॥

इति सज्जनप्रशंसा ।

अथ परोपकार पद्धतिः ।

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैर्नवाम्बुभिर्भूमि
विलम्बिनो घनाः । अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृ-
द्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥ ७१ ॥

वृक्ष फलके बोझसे नम्र हो जाते (झुक जाते) हैं, नवीन जलमे परिपूर्ण मेघ पृथ्वीपर झुक जाते हैं । इसी प्रकार सत्पुरुष भी धन पाकर उद्धत न होकर नम्र हो जाते हैं । परोपकारी जीवोंका स्वभाव ही ऐसा होता है ॥ ७१ ॥

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन दानेन पाणिर्न तु
कङ्कणेन । विभाति कायः करुणामयानां परोप-
कारैर्नतु चंदनेन ॥

कानकी शोभा शास्त्रका श्रवण करनेसे होती है कुण्डल पहिरने से नहीं, हाथकी शोभा दान देनेसे होती कंगन पहिरनेसे नहीं, करुणामय पुरुषोंकी देह शोभा परोपकार करनेसे होती है चन्दन लगानेसे नहीं ॥ ७२ ॥

पापान्निवारयति योजयते हिताय गुह्यानि
गूहति गुणान्प्रकटीकरोति । आपद्गतं च न जहाति
ददाति काले सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ७३

सन्त लोग सच्चे मित्रके ये लक्षण बताते हैंः—अपने

न त्याग कर दूसरोंके भी कार्यमें उद्यम करते हैं, वे मनुष्य रूपी राक्षस हैं जो अपने हितके लिये दूसरोंका काम बिगाड़ते हैं परन्तु हम नहीं जानते कि वे कौन हैं (उनको किस नाम से पुकारना चाहिये) विना प्रयोजन पराये कार्यकी हानि करते हैं ॥ ७५)

क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः
क्षीरे तापमवेक्ष्य तेन पयसा ह्यात्मा कृशानौ हुतः।
गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद्दृष्ट्वा तु मित्रापदं यु
क्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वीदृशी ७६

पहले जब जल दूधमें मिला तब दूधने उसको अपने सब गुण देकर मित्र बना लिया, (अर्थात् दोनों एक जीव हो गये) दूधको तापमें देखकर (अर्थात् जब वह आग पर उबाला गया) जलने अपनेको ही अग्निमें भस्म किया (अर्थात् वाष्परूपसे जल उड़ गया) दूध अपने मित्र जलको इस आपत्तिमें देख आप भी अग्निमें कूदना चाहता था (अर्थात् उबल कर बहता ही था) कि फिर जलके छींटे पाकर शान्त हो गया। सच है सत्पुरुषोंकी मैत्री ऐसी ही होती है ॥७६॥

इतः स्वपिति केशवः कुलमितस्तदीयद्विषामि-
तश्च शरणार्थिनः शिखरिणां गणः शेरते ॥ इतोपि

वडवानलः सह समस्तसंवर्तकै रहो विततमूर्जितं भरसहं च सिन्धोर्वपुः ॥ ७७ ॥

समुद्रमें एक ओर विष्णु भगवान् सोते हैं, दूसरी ओर उनके शत्रु (असुर) का कुल बसा है, एक ओर शरणागत पर्वतोंके समूह पड़े हैं और दूसरी ओर वड़वानल प्रलयाग्नि सहित वर्तमान है, पर देखो समुद्र कितना विशाल, बलवान् और धैर्यवान् है जो इतना भार सह सकता है [सज्जन भी समुद्रकी नाईं गम्भीर और सहनशील होते हैं] ॥ ७७ ॥

तृष्णां छिन्धि भज क्षमां जहि मदं पापे रतिर्मा कृथाः सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्व विद्वज्जनम् । मान्यान्मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रच्छादय स्वान्गुणान्कीर्तिं पालय दुःखिते कुरु दयामेतत्सतां लक्षणम् ॥ ७८ ॥

तृष्णा छेदन करो, क्षमाको भजो (धारणकरो), अभिमान को छोड़ो, पापमें प्रीति मत करो, सत्य बोलो, सज्जनोंके आचरणका अनुकरण करो, विद्वानोंकी सेवाकरो मान्य जनोंका आदर करो, शत्रुओंको भी, प्रसन्न रक्खो, अपने गुणोंको छिपाओ, कीर्तिका पालन करो और दुःखियोंपर दया रक्खो—यही सज्जनोंके लक्षण हैं ॥ ७८ ॥

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः । परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं निजहृदि विकसंतः सन्तिसन्तः कियन्तः ॥ ७९ ॥

ऐसे सज्जन विरले ही हैं जिनका मन, वाणी और शरीर पुण्यरूपी अमृतसे भरा है, जो अपने उपकारों से त्रिभुवनको तृप्त करते हैं और जो दूसरोंके परमाणु बराबर गुणोंको पर्वतके समान बढ़ा कर अपने हृदयको प्रफुल्लित करते हैं ॥ ७९ ॥

किन्तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणावा यत्राश्रिता श्च तरवस्तरवस्त एव । मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण कङ्कोलनिम्बकुटजा अपि चन्दनाः स्युः ॥ ८० ॥

उस सोनेके (सुमेरु) पर्वतसे और चाँदी के (कैलाश) पर्वतसे क्या ? अर्थात् इनका होना न होना हमारे लिये समान है) जब कि इनके आश्रित वृक्ष वृक्ष ही बने रहे (अर्थात् सोने चाँदीके न भये) हम लोग तो मलयाचल पर्वतकी बड़ाई करते हैं कि जहाँ कंकोल' नीम और कुटज ऐसे(तीते) वृक्ष भी चन्दन हो जाते हैं (तात्पर्य यह है कि उसी महा-

नुभावकी प्रशंसा करना चाहिये जो सदा लोकोपकार में तत्पर है) ॥ ८० ॥

इति परोपकार पद्धतिः ।



अथ धैर्यप्रशंसा ।

रत्नैर्महार्हैस्तुतुषुर्न देवा न भेजिरे भीमविषेण भीतिम् । सुधां विना न प्रययुर्विरामं न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः ॥ ८१ ॥

अमूल्य रत्नों (को पाकर) से देवता लोग सन्तुष्ट न हुए और भयङ्कर विष (हलाहल) से भी भयभीत न हुए, ऐसा होने पर भी समुद्रके मन्थनका प्रयत्न न छोड़ा अर्थात् अमृत पाये विना उन्होंने विश्राम न किया (तात्पर्य यह है कि) धीर मनुष्य अपने निश्चित अर्थको विना समाप्त किये हुए नहीं छोड़ते ॥ ८१ ॥

क्वचिद्भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनः क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः । क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम् ॥ ८२ ॥

मनस्वी पुरुष जब किसी कार्य सम्पादनमें लगा रहता है तो सुख और दुःखको नहीं गिनता,—कभी वह पृथ्वीपर सोता है और कभी सेजपर, कभी सागपात खाता है कभी चावल इत्यादिका उत्तम आहार करता है, कभी गूदड़ ओढ़ता है और कभी दिव्य वस्त्र धारण करता है ॥ ८२ ॥

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमो ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम्॥ ८३ ॥

सज्जनता ऐश्वर्यका भूषण है, वाक्संयम (अभिमानके वाक्य न कहना) शूरताका, शान्ति ज्ञानका, विनय शास्त्रज्ञका, योग्यको देना दानका, क्रोध न करना तपस्वीका, क्षमा प्रभुताका और निष्कपटता धर्मकी शोभा है, परन्तु यह शील ही अन्य सब (गुणों) का उत्तम भूषण और कारण है ॥ ८३ ॥

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् । अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥ ८४ ॥

नीतिनिपुण लोग चाहे निन्दा करें चाहे स्तुति, लक्ष्मी चाहे (घर में) आवे अथवा जहाँ चाहे तहाँ चली जाय, मृत्यु चाहे आज हो चाहे युगान्तरमें, परन्तु धीर पुरुष न्यायका मार्ग छोड़कर एक पग भी (बाहर) नहीं हटते ॥ ८४ ॥

भग्नाशस्य करण्डपीडिततनोर्म्लानेन्द्रियस्य क्षुधा कृत्वाखुर्विवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिनः। तृप्तस्तत्पिशितेन सत्वरमसौ तेनैव यातः पथा लोकाः पश्यत दैवमेव हि नृणां वृद्धौ क्षये कारणम् ॥ ८५॥

एक सर्प पिटारेमें बन्द होनेके कारण पीड़ित था और उसने जीनेकी आशाको छोड़ दिया था और भूखने उसकी सब इन्द्रियोंको शिथिल कर दिया था। (अकस्मात्) रात्रिमें एक चूहा उस पिटारेमें छिद्र करके घुसा और स्वयं सर्पके मुखमें गिर पड़ा, सर्प भी मूषकके मांस से तृप्त होकर उसी छेदसे (जिसको चूहेने किया था) निकल गया। हे भाइयों! देखो पुरुषोंकी वृद्धि और क्षयमें दैव ही कारण है ॥ ८५ ॥

पातितोऽपि कराघातैरुत्पतत्येव कन्दुकः। प्रायेण साधुवृत्तानामस्थायिन्यो विपत्तयः ॥ ८६ ॥

हाथके आघातसे गिराया हुआ (हाथसे पृथ्वीपर

फेंका हुआ) गेंद भी ऊपर को उछलता है। भले आचरण-वाले मनुष्यों की विपत्ति प्राय स्थिर नहीं होती ॥ ८७ ॥

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः
नास्त्युद्यमसमो बन्धुर्यं कृत्वा नावसीदति ॥८७॥

आलस्य ही मनुष्यके शरीरमें रहनेवाला बड़ा शत्रु है। उद्यम के समान मनुष्यका कोई बन्धु नहीं है कि जिसके करनेसे मनुष्य कभी दुःखी नहीं होता ॥ ८७ ॥

छिन्नोऽपि रोहति तरुःक्षीणोप्युपचीयते पुनश्चन्द्रः। इति विमृशन्तः सन्तः संतप्यन्ते न विप्लुता लोके ॥ ८८ ॥

कतरा हुआ (कलम किया हुआ) वृक्ष फिर बढ़ जाता है, चन्द्रमा क्षीण होकर फिर बढ़कर पूर्ण हो जाताहै, ऐसा विचार करके सन्त लोग इस संसारमे दुःखसे पड़कर भी सन्ताप नहीं करते ॥ ८८ ॥

इति धैर्य प्रशंसा।



अथ दैव प्रशंसा।

नेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनि

काः स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः किल हरेरैरावतो वारणः। इत्यैश्वर्यबलान्वितोऽपि बलभिद्भग्नः परैः संगरे तद्व्यक्तं वरमेव दैवशरणं धिग्धिग्वृथा पौरुषम् ॥ ८९ ॥

इन्द्र भी संग्राम में शत्रुओंसे हारा यद्यपि उसपर हरि का अनुग्रह था और वह ऐसे ऐश्वर्य और बलसे संयुक्त था– (यथा) बृहस्पति उसके मन्त्री जैसे देवतागण की सेना,स्वर्ग ऐसा गढ़ और ऐरावत चढ़नेको हाथी। इससे यह विदित होता है कि दैवहीका शरण योग्य है पुरुषार्थ वृथा है और उसको धिक्कार है ॥ ८९ ॥

कर्मायत्तं फलं पुंसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी।
तथापि सुधिया भाव्यं सुविचार्यैव कुर्वता ॥ ९० ॥

यद्यपि पुरुषोंको अपने (पूर्व जन्मसे) किये हुए कर्म का ही फल मिलता है और बुद्धि उस कर्म के अनुसार ही होती है तथापि बुद्धिमानोंको उचित है कि भली भाँति विचार कर कार्य करें ॥ ९० ॥

खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किरणैः सन्तापितो मस्तके वाञ्छन्देशमनातपं विधिवशात्तालस्य मूलं गतम्। तत्राप्यस्य महाफलेन पतता भग्नं सश

ल्दं शिरः प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यांत्यापदः ॥ ९१ ॥

किसी चंदुला पुरुषका मस्तक जब सूर्यकी किरणों से तपने लगा तो वह छायाका स्थान ढूंढता हुआ दैवयोगसे एक ताड़के नीचे खड़ा हुआ, वहां जाते ही शीघ्र एक बड़ा फल (नारियल) उसपर गिरा और उसके तड़ाके के साथ उसका शिर टूट गया। इसका तात्पर्य यह है कि अभागे लोग जहां जहां जाते हैं वहां वहां विपत्ति भी उनके पीछे पीछे जाती है ॥ ९१ ॥

शशिदिवाकरयोग्रहपीडनं गजभुजङ्गमयोरपि बंधनम् । मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां विधिरहोबलवानिति मे मतिः ॥ ९२ ॥

चन्द्रमा और सूर्य ग्रह (राहु) से पीड़ित,हाथी और सर्प ऐसे पराक्रमी जो (व) बन्धनमें पड़े, और बुद्धिमानोंको दरिद्र देखकर मुझे यही निश्चय होता हैं कि अरे दैवगति ही बलवान् है ॥ ९२ ॥

सृजति तावदशेषगुणाकरं पुरुषरत्नमलंकरणं भुवः । तदपि तत्क्षणभङ्गि करोति चेत् अहह कष्टमपण्डितता विधेः ॥ ९३ ॥

पहिले विधाता पुरुष रत्नको सब गुणोंकी खान और संसार का अलंकार बनाता है तथापि उसका जीवन क्षणभंगुर ही कहाता है। अहा ! खेदकी बात है कि इस विषयमें विधि भूल करता है ॥ ९३ ॥

पत्रं नैव यदा करीलविटपे दोषो वसन्तस्य किं नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम् । धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणं यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः ॥ ९४ ॥

जो करील वृक्षसे पत्ते नहीं लगते तो इसमें वसन्तका क्या दोष है दिनमें जो उल्लूको दिखायी नहीं पड़ता तो इसमें सूर्यका क्या दोष है, चातकके मुख में जो जलकी धारा नहीं पड़ती तो इसमें मेघका क्या दोष है, (इस से यह सिद्ध है कि) जो कुछ विधाताने ललाटमें प्रथम ही लिख दिया है उसको कौन मिटा सकता है ॥ ९४ ॥

इति दैवप्रशंसा ।



अथ कर्मप्रशंसा ।

नमस्यामो देवान्ननु हतविधेस्तेऽपि वशगा

विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैक फलदः । फलं कर्मायत्तं किममरगणैः किंच विधिना नमस्तत्कर्मेभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ॥ ९५ ॥

हम देवताओंको नमस्कार करते हैं पर वे भी विधाता के वशमें हैं, हम विधिको नमस्कार करते हैं परन्तु विधाता भी कर्मके अनुसार ही फल देता है (अर्थात् इसमें भी कुछ विशेपता नहीं है) तो जब फल कर्मके अनुसार ही मिलता हैं तो हमें देवता या विधिनासे क्या काम ? अतएव हम कर्मको ही नमस्कार करते हैं (अर्थात् प्रधान मानते हैं) जिसपर विधाताका भी कुछ अधिकार नहीं हैं ॥ ९५ ॥

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासङ्कटे । रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ॥ ९६ ॥

हम उस कर्म को नमस्कार करते हैं जिसने ब्रह्माको कुम्हारकी नाईं (सृष्टि रचनेके लिये) ब्राह्मण्डरूपी वर्तनके भीतर बन्द किया, जिसने विष्णुको दश अवतार लेकर वडे संकटमें डाला, जिसने शिवको हाथमें कपाल ले भीख मँग-

वायी और जिसने सूर्यको नित्य आकाशमें भ्रमण कराया॥९६॥

नैवाकृतिः फलति नैव कुलं न शीलं विद्यापि नैव न च यत्नकृतापि सेवा। भाग्यानि पूर्वं तपसा खलु सञ्चितानि काले फलंति पुरुषस्य यथैव वृक्षाः॥ ९७॥

मनुष्यकी सुन्दर आकृति फल नहीं देती और न उत्तम कुल, न शील और न विद्या और न बड़े यत्नसे की हुई सेवा। पूर्वजन्मकी तपस्यासे संचित किये हुए भाग्य ह वृक्षकी नाई मनुष्यको समयपर फल देते हैं॥ ९७॥

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये, महार्णवे पर्वतमस्तके वा। सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा, रक्षंति पुण्यानि पुराकृतानि

पूर्व जन्मके किये पुण्य ही वनमें, संग्राममें, शत्रुके मध्यमें, जलमें, अग्निमें, बड़े समुद्रमें, सोते हुए, असावधान और विषम अवस्थामें पुरुषकी रक्षा करते हैं॥ ९८॥

या साधूंश्च खलान्करोति विदुषो मूर्खान्हि तान्द्वेषिणः प्रत्यक्षं कुरुते परोक्षममृतं हालाहलं तत्क्षणात्। तामाराधय सत्क्रियां भगवतीं भोक्तुं

फलं वाञ्छितं हे माधो व्यसनैर्गुणेषु विपुलेष्वा स्थां वृथा मा कृथाः ॥ ९९ ॥

हे साधो ! अपने वांछित फलका उपभोग करनेकेलिये उस सत्क्रिया रूपी भगवतीकी आराधना करो जो दुष्टोंको सज्जन, मूर्खोंको पण्डित, शत्रुओंको हितकारी परोक्षको प्रत्यक्ष (अर्थात् गुप्तको प्रगट) और विषको अमृत एकक्षणमें कर देती है। बहुतसे गुणोंके साधनमें हठ करके वृथा मत करो ॥ ९९ ॥

गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यमादौ परिणति रवधार्या यत्नतः पण्डितेन । अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेर्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥ १०० ॥

पण्डितको चाहिये कि किसी भले या बुरे कामको करनेसे पहले ही यत्नपूर्वक उसके परिणामको विचार लेवे। अति शीघ्रतासे (बिना विचारे) किये हुए कार्यका फल मरण पर्यन्त हृदयको मर्ममें चुभे कांटेकी नाई दुःखदेताहै॥१००॥

स्थाल्यां वैदूर्यमय्यां पचति च लशुनं चन्दनै रिन्धनाद्यैःसौवर्णैर्लाङ्गलाग्रैर्विलिखति वसुधामर्कमूलस्य हेतोः। कृत्वा कर्पूरखंडान्वृतिमिह कुरुते

कोद्रवाणां समन्तात्प्राप्येमां कर्मभूमिं चरति न मनुजो यस्तपो मन्दभाग्यः ॥ १०१ ॥

वह मन्द भाग्य पुरुष जो कर्मभूमिको प्राप्त कर (अर्थात् इस संसारसे जन्म ले) तप नहीं करता वह (मानो) मरकत-मणिके पात्रसे लहसुनको चन्दनके ईंधनसे पकाता है और अर्कवृक्षकी जड़ (प्राप्त करने) की इच्छासे सोनेके हलसे पृथ्वीको जोतता है, और कर्पूरके वृक्षोंको काट कर कोदो के चारो ओर डाण बनाता है॥ १०१॥

मज्जत्वम्भसि यातु मेरुशिखरं शत्रूञ्जयत्वाहवे वाणिज्यं कृपिसेवनादिसकला विद्याः कलाः शिक्षिताम्। आकाशं विपुलं प्रयातु खगवत्कृत्वा प्रयत्नं परं नाभाव्यं भवतीह कर्मवशातो भाव्यस्य नाशः कुतः ॥ १०२ ॥

मनुष्य चाहे जलमें गोता लगावे, चाहे मेरुके शिखर पर चला जाय, चाहे शत्रुओंको संग्राम में जीते, चाहे व्यापार, कृपि, सेवा इत्यादिकी विद्या और कलाओंको सीखे और चाहे बड़ा प्रयत्न करके पक्षीकी तरह विपुल आकाशमें फिरे, परन्तु वह अन होनी को होनी कर सकता (जो वात होनेवाली हैं वह होहीगी) और जो कर्मवश होनेवाली है सो नहीं टलती ॥ १०२ ॥

भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं सर्वोजनः सुजनतामुपयाति तस्य । कृत्स्ना च भूर्भवति सन्निधिरत्नपूर्णा यस्यास्ति पूर्वसुकृतं विपुलं नरस्य ॥ १०३ ॥

जिस पुरुषके पूर्व जन्मके (किये हुए) बहुत पुण्य हैं उसके लिये भयङ्कर वन प्रधान नगर (राजधानी) हो जाता है, सब लोगमित्र हो जाते हैं और सम्पूर्ण पृथ्वी भी सम्पूर्ण निधि और रत्नोंसे पूर्ण हो जाती ॥१०३॥

इति कर्मप्रशंसा ।



अथ प्रत्यन्तर श्लोकाः ।

को लाभो गुणिसङ्गमः किमसुखं प्राज्ञेतरैः सङ्गतिः का हानिः समयच्युतिर्निपुणता का धर्मतत्त्वे रतिः । कः शूरो विजितेन्द्रियः प्रियतमा कानुव्रता किं धनं विद्या किं सुखमप्रवासगमनं राज्यं किमाज्ञाफलं ॥ १०४ ॥

लाभ क्या है ? गुणियों की संगति, दुःख क्या है ? मूर्खोंका संग हानि क्या है ? समय पर चूकना, निपुणता

क्या है ? धर्ममें प्रीति, शूर कौन है ?जिसने अपनी इन्द्रियोंको जीत (वशमें कर) लिया है, प्रियतमा कौन है ? जो पतिव्रता है, धन क्या है ? विद्या सुख क्या है ? परदेश न जाना, राज्य क्या है ? अपनी आज्ञाका चलाना ॥१०४॥

मालतीकुसुमस्येव द्वे गतीहमनस्विनः ।
मूर्ध्नि वा सर्वलोकस्य शीर्यते वन एव वा॥१०५॥

मनस्वी (अर्थात् वीर) पुरुषोंकी मालतीके फूलकी नाईं दोही गति होती हैं—या तो वे सब लोगोंके मस्तकहीपर रहते हैं (सब उनका आदर करते हैं) अथवा वनमें ही सूख जाते हैं (जंगलमें जाकर शरीर त्यागते हैं ॥ १०५ ॥

अप्रियवचनदरिद्रैः प्रियवचनाढ्यैः स्वदारपरितुष्टैः । परपरिवादनिवृत्तैः क्वचित्क्वचिन्मण्डिता वसुधा ॥ १०६ ॥

पृथ्वी कहीं कहीं (अर्थात् सर्वत्र नहीं) ऐसे पुरुषोंसे शुशोभित होती है जो प्रिय वचनकी खान है, जिनको अप्रिय वचनका दरिद्र है (अर्थात् जो अप्रिय कभी नहीं बोलते), जो अपनी ही स्त्रीसे संतुष्ट हैं और जो दूसरोंकी निन्दा से रहते हैं ॥ १०६ ॥

कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृत्तेर्न शक्यते धैर्य

गुणाः प्रमार्ष्टुम् । अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्ने र्नाधःशिखा याति कदाचिदेव ॥ १०७ ॥

धैर्यवान् पुरुष कैसे ही कष्टमें क्यों न पड़े परन्तु उसका धीरज (धैर्यका गुण) नष्ट नहीं हो सकता । प्रज्वलित अग्निको उलट देनेपर भी उसकी ज्वाला नीचेकी ओर कभी भी नहीं जाती ॥ १०७ ॥

कान्ताकटाक्षविशिखा न दहन्ति यस्य चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः । कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशैर्लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः ॥ १०८ ॥

वह धैर्यवान् पुरुष तीनों लोकको जीतता है जिसके हृदयको स्त्रियोंके बाण रूपी कटाक्ष नहीं छेदते, जिससे चित्तको क्रोधरूपी अग्निकी आँच नहीं जलाती और न तो नाना प्रकारके विषय ही लोभके फन्देमें फंसा कर खींचते हैं ॥ १०८ ॥

एकेनापि हि शूरेण पादाक्रान्तं महीतलम् । क्रियते भास्करेणैव परिस्फुरित तेजसा ॥ १०९॥

जिस प्रकार सूर्य अपने देदीप्यमान तेजसे (सारे जगत्को प्रकाशित करता है) उसी प्रकारसे एक ही शूरपृथ्वी

तलको (अपने पराक्रमसे) पाँवतले दबा लेता है (अर्थात् वशमें कर लेता है ॥ १०९ ॥

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणान्मेरुःस्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते। व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते यस्याङ्गेऽखिललोकवल्लभतमं शीलं समुन्मीलति ॥११०॥

जिस पुरुषके अंगमें संपूर्ण जगत्को मोहनेवाला शील विद्यमान है उसको अग्नि जलके समान, समुद्र अल्प नदीके समान, मेरु पर्वत छोटीसी पहाड़ीके समान, सिंह मृगके समान, सर्प पुष्पमाला के समान और विष भी अमृतकी वर्षाके समान ज्ञात होता है ॥ ११० ॥

लज्जागुणौघजननीजननीमिवस्वामत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्तमानाम्। तेजस्विनः सुखमसूनपि संत्यजन्ति सत्यव्रतव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥ १११ ॥

लज्जा इत्यादि गुणोंके समुदायको उत्पन्न करनेवाली और अपनी जननीके समान शुद्ध हृदय और स्वाधीन रहनेवाली प्रतिज्ञाको सत्यव्रतको धारण करनेवाले तेजस्वीमनुष्य

कदापि नहीं छोड़ते परन्तु अपना प्राण भी सुखसे त्याग देते हैं ॥ १११ ॥

इति श्रीमद्भर्तृहरि विरचितं नीतिशतक समाप्तम् ।



विविधविषयक श्लोकाः ।

अग्राह्यं हृदयं यथैव वदनं यद्दर्पणान्तर्गतं भावः पर्वतसूक्ष्ममार्गविषयः स्त्रीणां न विज्ञायते। चित्तं पुष्करपत्रतोयतरलं विद्वद्भिराशंसितं नारी नाम विषांकुरैरिव लता दोषःसमं वर्धिता॥११२॥

स्त्रियोंके हृदयदर्पणमें अन्तर्गत मुखकी नाईं ग्रहण नहीं किये जा सकते, उनके भाव पर्वतके सूक्ष्म मार्गकी नाईं दुर्गम हैं और जाने नहीं जा सकते, पंडितोंने उनका चित्त कमल पत्रपर पड़े हुए जलके समान चंचल बताया है, इन दोषोंसे संवर्धित स्त्री उस लताकी नाईं है जिसमें विषके अंकुर उगते हैं ॥ ११२ ॥

अभिमुखनिहतस्य सतस्तिष्ठतु तावज्जयोथ वा स्वर्गः । उभयबलसाधुवादः श्रावणसुखोसौ बतात्यर्थम् ॥ ११३ ॥

शत्रुके अभिमुख आक्रमण करनेमें व्रणित (घायल) शूर जयको पाता है अथवा स्वर्गको, इस वार्ताको छोड़ दो । दोनों सेनाओंकी प्रशंसा ही सत्यमें कानोंको सुख देती हैं ॥ ११३ ॥

इयत्येतस्मिन्वा निरवधि चमत्कृत्यतिशयो वराहो वा राहुः प्रभवति चमत्कारविषयः । मही मेको मग्नां यदयमवहद्धन्त सलिलं शिरः शेषः शत्रुं निगलति परः संत्यजति च ॥ ११४ ॥

वराह और राहु ही अत्यन्त अद्भुत पदार्थोंके समूहमें चमत्कारका विषय है क्योंकि वराहने ही जलमें डूबती हुई पृथ्वीको धारण किया और राहु जिसका शिर ही बचगया है शत्रु (सूर्य) को निगल जाता है और फिर उगल देता है ॥ ११४ ॥

उदन्वच्छन्नाभूः स च निधिरपां योजनशतं सदा पान्थः पूषा गगनपरिमाणं कलयति । इति प्रायो भावाः स्फुरदवधिमुद्रामुकुलिताः सतां प्रज्ञोन्मेषः पुनरयमसीमा विजयते ।.११५॥

यह पृथ्वी समुद्रसे घिरी है, और यह जल समुदाय सैकड़ों योजनों तक आकीर्ण है, सूर्य भी सदा सम्पूर्ण गगन

पर्यन्त भ्रमण करता है। इस प्रकारसे प्रायः सभी वस्तु अवधिकी मुद्रासे मुकुलित हैं (अर्थात् सब वस्तुओंके संचालन अथवा स्थितीके मार्ग संबद्ध हैं) परन्तु यह सज्जनोंकी बुद्धिका तेज असीम (सीमा रहित) है ॥ ११५ ॥

कमठकुलाचलदिग्जफणिपतिविधृतापि चलति वसुधेयम्। प्रतिपन्नममलमनसां न चलति पुंसां युगान्तेपि ॥११६॥

यह वसुधा कूर्मसे, (सात) मुख्य पर्वतोंसे, (आठ) दिग्गजजोंसे और शेषनागसे धारण किये जानेपर भी चलायमान ही है। परन्तु शुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुषोंके व्यवसाय युगान्तमें भी चलायमान नहीं होते अर्थात् स्थिर ही रहते हैं ॥ ११६ ॥

परिचरितव्याः सन्तो यद्यपि कथयन्ति न सदुपदेशम्। यास्त्वेषां स्वैरकथास्ता एव भवन्ति शास्त्राणि ॥११७॥

यद्यपि सज्जन लोग किसी विषयपर) भले उपदेश न भी दें तो भी उनकी सेवा करना चाहिये क्योंकि इनकी अकस्मात् कही कथा भी शास्त्र (की नाईं पूजनीय) होती है ॥ ११७ ॥

प्रायः कन्दुकपातेनोत्पतत्यार्यः पतन्नपि ।
तथा त्वनार्यः पतति मृत्पिण्डपतनं यथा ॥ ११८ ॥

सज्जन पुरुषका पात (गिरना) प्रायः गेंदके समान होता है (अर्थात् विपत्तिमें पड़कर भी वे शीघ्र ही सुखकी अवस्थाको प्राप्त करते हैं) परन्तु अनार्यका पात मिट्टीके ढेलेके समान होता है (जो गिर कर जहाँका तहाँ ही रह जाता है ॥ ११८ ॥

यदि नाम दैवगत्या जगदसरोजं कदाचिदपि जातम् । अवकरनिकरं विकरति तत्किं कृकवाकुरिव हंसः ॥११९॥

यदि कदाचित् यह संसार दैव गतिसे कमलरहित हो जाय तो क्या हंस कुकुटकी नाईं धूल आदिके समूहको (चोंचसे) खुरेडेगा [भाव यह है कि सज्जन लोग बड़ीसे बड़ी आपत्तिमें पड़कर भी नीच कर्म नहीं करते] ॥११९॥

यन्नागा मदभिन्नगण्डकरटास्तिष्ठन्ति निद्रालसा द्वारे हेम विभूषणाश्च तुरगावल्गन्ति यद्दर्पिताः। वीणावेणुमृदङ्गशङ्खपटहैः सुप्तस्तु यद्बोध्यते तत्सर्वंसुरलोकदेवसदृशंधर्मस्यविस्फूर्जितम्॥१२०

जब मत्त हाथी जिनके गंडस्थल मदजलसे अङ्कित हैं

निद्राके आलस्यमें पडे रहते हैं, तभी उनके द्वारपर गर्वीले सोनेके आभूषण युक्त घोड़े हिनहिनाते हैं और जब वीन, बाँसुरी, मृदङ्ग, शंख और नगाडेका शब्द होता है तभी सोये हुए मनुष्य जाग जाते हैं तो यह सब सुरपतिके समान धर्मका आविष्कार है ॥ १२० ॥

ये सन्तोषनिरन्तरप्रमुदितास्तेषां न भिन्ना मुदो ये त्वन्ये धनलोभसंकुलधियस्तेषां न तृष्णा हता । इत्थं कस्य कृते कृतः स विधिना तादृक्पदं संपदां स्वात्मन्येव समाप्तहेममहिमा मेरुर्न मे रोचते ॥ १२१ ॥

जो लोग सदा सन्तोषसे ही प्रसन्न रहते हैं उनको हर्षमें कभी विघ्न नहीं होता लोगोंका मन सदा धनके लोभहीमें व्याप्त रहता है उनकी तृष्णा कभी हत नहीं होती (अर्थात् उनकी लोभकी प्यास कभी नहीं बुझती) जब ऐसी स्थिति है तो ब्रह्माने सर्व सम्पति के घरवाले। मेरु पर्वत को जिसके सुवर्णकी महिमा अपनेहीमें समाप्त होती है (अर्थात् जिस संपत्तिको संतुष्ट लोग नहीं चाहते और जिससे लोभियोंकी तृष्णा नहीं जाती) फिर किसके लिये बना है । मुझे तो पर्वत नहीं अच्छा लगता ॥ १२१ ॥

रक्तत्वं कमलानां सत्पुरुषाणां परोपकारित्वम् ।

असतां च निर्दयत्वं स्वभावसिद्धत्रिपुत्रियम्॥१२२॥

कमल में लाली, सत्पुरुषों में परोपकार और दुष्टोंमें निर्दयता ये तीनोंमें स्वभावसे ही वर्तमान रहते हैं ॥१२५॥

वाचोहि सत्यं परमं विभूषणं गजाङ्गनायाः कृशता कटौ च । द्विजस्य विद्यैव पुनस्तथा क्षमा शीलं हि सर्वस्य नरस्य भूषणम् ॥१२३॥

वाणी ही सत्यमें सबका उत्तम भूषण है, गजगामिनी स्त्रियोंकी कटिकी दुर्बलता, द्विजोंकी विद्या और इसके अति रिक्त क्षमा और शील सब पुरुषोंका भूषण है ॥ १२६ ॥

वरं तुङ्गाच्छृङ्गाद्गुरुशिखरिणः क्वापि विषमे पतित्वायं कायः कठिनदृषदन्तैर्विदलितः । वरं न्यस्तो हस्तः फणिपतिमुखे तीव्रदशने वरं वह्नौ पातस्तदपि न कृतः शीलविलयः ॥१२४॥

यह शरीर बड़े पर्वतकी ऊंची चोटीपरसे कठिन और चोखे चट्टानोंपर गिरकर टुकड़े टुकड़े हो जाय तो भलाहै इस हाथको तीव्र डंसनेवाले सर्पराजके मुँहमें देना भला है और अग्निमें गिर कर प्राण देना भला है परन्तु शीलको भ्रष्ट करना मनुष्यके लिये अच्छा नहीं ॥ १२४ ॥

विरमविरसायासादस्माद्दुरध्यवसायतो विप

दि महतां धैर्यं ध्वंसं यदीक्षितुमीहसे । अपिजड मते कल्पापाये व्यपेत निजक्रमः कुलशिखरिणः क्षुद्रा नैते नवाजलराशयः ॥१२५ ॥

हे जड़मति ! यदि तुम महान् पुरुषोंको विपत्तिमें भी धैर्यके नाश होनेको देखना चाहते हो तो इस कठिन व्यव-सायको छोड़ दो (क्योंकि) इससे तुम्हारा अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता (तात्पर्य यह है कि सज्जन लोग आपत्तिमें भी अपना धैर्य कभी न छोड़ेंगे जो तुम इनको अधीर देख सकोगे) क्योंकि ये बड़े पर्वतके समान क्षुद्र नहीं हैं कि जिनका क्रम कल्पान्तमें नष्ट हो जायगा और न ये समुद्र हैं (अर्थात् कल्पान्तमें नाश हो जानेके कारण कविने वृहत्प-र्वतों और समुद्रको यहाँ क्षुद्र कहा है) ॥ १२५ ॥

स्पृहयति भुजयोरन्तरमायत करवालकररुह विदीर्णम् । विजयश्रीर्वीराणां व्युत्पन्नप्रौढवनि तेन ॥ १२६ ॥

विजयलक्ष्मी व्युत्पन्न (कामशास्त्रमें प्रवीण) और यौवन प्राप्त सुन्दरी की नाईं वीर लोगोंके खड्ग रूपी नखोंसे विदीर्ण वक्षः स्थलकी आकांक्षा करती है (स्त्रीपक्षमें "कर-वालकररुहविदीर्ण„ का अर्थ है—"कोमल नख, अथवा कर-वालके समान नख„) ॥ १२६ ॥

अथ शृंगारशतकम् ।

मंगलाचरणम् ।

शम्भुस्वयंभुहरयो हरिणेक्षणानां येनाक्रियन्त सततं गृहकर्मदासाः ॥ वाचामगोचर चरित्र विचित्रिताय तस्मै नमो भगवते कुसुमायुधाय ॥ १ ॥

हम उस भगवान् कुसुमायुध (कामदेव)को नमस्कार करते हैं जिनका चरित्र विचित्र होनेके कारण वाणीसे वर्णन नहीं हो सकता और जिन्होंने शिव, ब्रह्मा और विष्णुको भी गृहकर्म (करनेके लिये स्त्रियों) के लिये दास बना रक्खा है ॥ १ ॥

अथ स्त्री प्रशंसा ।

स्मितेन भावे नच लज्जया भिया पराङ्मुखैरर्द्धकटाक्षवीक्षणैः । वचोभिरीर्ष्याकलहेन लीलया समस्तभावैः खलु बन्धनं स्त्रियः ॥ २ ॥

स्त्रियाँ मन्द मुसकानेसे, हाव भावसे, भीति (भय प्रकट करने) से,मुख फेर लेनेसे, अर्धकटाक्षसे देखनेसे, मधुर

वचन बोलने से, ईर्षा, कलह और लीलासे इन समस्त भावोंसे निश्चय करके (पुरुषकी) बन्धन स्वरूप ही हैं ॥ २ ॥

भ्रूचातुर्याकुञ्चिताक्षाः कटाक्षाः स्निग्धा वाचो लज्जितास्चैव हासाः । लीलामन्दं प्रस्थितं च स्थितं च स्त्रीणामेतद्भूषणं चायुधं च ॥ ३ ॥

भौंहें फेरनेकी चतुरता, अर्ध नेत्रसे कटाक्ष करना, मधुर बोलना, लज्जित होकर हँसना, लीलासे मन्द मन्द चलना और ठहर जाना, ये स्त्रियोंके भूषण और शस्त्र हैं अर्थात् इन्हीं गुणोंसे स्त्रीकी शोभा है और इन्हीं शस्त्रों से ये पुरुषोंको मारती हैं ॥ ३ ॥

क्वचित्सुभ्रूभङ्गैः क्वचिदपि च लज्जापरिणतैः क्वचिद्भीतित्रस्तैः क्वचिदपि च लीलाविलसितैः । नवोढानामेभिर्वदनकमलैर्नेत्रचलितैः स्फुरन्नीलाब्जानां प्रकरपरिपूर्णा इव दृशः ॥ ४ ॥

नवयुवा स्त्रियोंकी दृष्टि, कभी सुन्दर भौंहे टेढी करनेसे, कभी लज्जाके वश शिर झुकानेसे, कभी भयभीत होनेसे, कभी लीलामय विलास करनेसे, कमल सरीखे (सुन्दर) मुखोंसे और नेत्रोंकी चंचलतासे, देदीप्यमान कमलोंके समुदायकी नाईं परिपूर्ण देख पड़ती हैं । (जिस प्रकार

फूले हुए कमलों पर भ्रमरका समुदाय शोभाको बढ़ाता है उसी तरह सुन्दर स्त्रियोंकी चंचल दृष्टि उनकी शोभाको और भी अधिक कर देती है) ॥ ४ ॥

वक्त्रं चन्द्रविकासि पङ्कजपरीहासक्षमे लोचने वर्णः स्वर्णमपाकरिष्णुरलिनीजिष्णुः कचानाञ्चयः। वक्षोजाविभकुम्भसंभ्रमहरौ गुर्वी नितम्बस्थली वाचां हारि च मार्दवं युवतिषु स्वाभाविकं मंडनम् ॥ ५ ॥

चन्द्रमाके समान उज्वल मुख, कमलको हँसानेवाले नेत्र, सुवर्ण की चमकको मन्द करने वाली शरीरकी कान्ति, भ्रमरियोंके समुदायको जींतनेवाले केशसमूह, गज मस्तककी शोभाको हरनेवाले स्तन विशाल दोनों नितंब और मनको हरनेवाली कोमल वाणी—वे सब स्त्रियोंके स्वाभाविक भूषण हैं ॥५॥

स्मितं किञ्चिद्वक्त्रे सरलतरलो दृष्टिविभवः परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोक्तिसरसः। गतीनामारम्भः किसलयितलीलापरिकरः स्पृशंत्यास्तारुण्यं किमिह नहि रम्यं मृगदृशः ॥ ६ ॥

मुखपर मन्द मुसकान, सीधे और चंचल नेत्रोंकी छटा,

नये नये विलासोक्ति.सरस बात करना और लीलासे नवीन पत्तेके समान मन्द मन्द गतिका आरम्भ करना इत्यादि यौवन चढ़नेपर मृगनयनीके कौनसे हाव .भाव सुन्दर नहीं होते ? ॥ ६ ॥

द्रष्टव्येषु किमुत्तमं मृगदृशां प्रेमप्रसन्नं मुखं
घ्रातव्येष्वपि किं तदास्यपवनः श्राव्येषु किं तद्वचः।
किं स्वाद्येषु तदोष्ठपल्लवरसः स्पृश्येषु किं तत्तनु-
र्ध्येयं किं नवयौवनं सुहृदयैः सर्वत्र तद्विभ्रमः ॥ ७ ॥

असक्त पुरुषोंके देखने योग्य कौनसी उत्तम वस्तु है ? मृगनयनीका प्रेमसे प्रसन्न मुख, सूँघनेमें कौन सी ? उनके मुखकी भाफ; सुननेमें कौन सी ? उनका (मधुर) वचन; स्वादिष्ट पदार्थोंमें कौन सी ? उनके अधर पल्लवका रस; स्पर्श करनेमें कौन सी ? उनका शरीर; और ध्यान करने योग्य कौन सी वस्तु है ? उनका यौवन और विलास ॥७॥

एताः स्खलद्वलयसंहतिमेखलोत्थ झङ्कारनूपुरस्वाहृतराजहंस्यः। कुर्वन्ति कस्य न मनो विवशं तरुण्यो वित्रस्तमुग्धहरिणीसदृशैः कटाक्षैः ॥ ८ ॥

वे नवयुवती जिन्होंने अपने कंकणों के शब्दसे; क्षुद्र घंटिका (घुंघुरु) की ध्वनि और नूपुर (पैजनी) की झन

करके राजहंसिनियोंकी चालको जीत लिया है, हरिणी के समान नेत्रपात करके किसके मनको विवश (चलायमान) नहीं कर देतीं ॥ ८ ॥

कुंकुमपङ्ककलङ्कितदेहा गौरपयोधरकम्पितहारा । नूपुरहंसरणत्पदपद्मा कं न वशी कुरुते भुवि रामा ॥ ९ ॥

इस संसारमें किसको ऐसी सुन्दर स्त्री वशीभूत नहीं कर लेतीं जिनकी देह केशर और चन्दनसे शोभित है, जिनके गोरे स्तनोंपर हार झूल रहा है और जिनके चरण कमलोंमें नूपुर रूपी हंस शब्द कर रहे हैं ॥ ९ ॥

नूनं हि ते कविवराः विपरीतबोधा ये नित्यमाहुरबला इति कामिनीनाम् । याभिर्विलोलतरतारकदृष्टिपातैः शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबलाः कथं ताः ॥ १० ॥

वे श्रेष्ठ कवि निसंन्देह उलटी बुद्धिके हैं जो स्त्रियोंको सदा "अवला" [अ+वल=जिसको वल नहीं है] कहा करते हैं । भला जो (स्त्रियाँ) अपनी चंचल पुतलियों के कटाक्षसे इन्द्र इत्यादिको भी जीत लेती हैं (अर्थात् स्वाधीन कर लेती हैं) वे अवला कैसे हो सकती हैं ॥ १० ॥

नूनमाज्ञाकरस्तस्या सुभ्रुवो मकरध्वजः ।
यतस्तन्नेत्रसंचारसूचितेषु प्रवर्तते ॥ ११ ॥

मकरध्वज (कामदेव) निःसन्देह सुन्दर भौंहवाली स्त्रियों का आज्ञाकारी सेवक है क्योंकि जिसकी ओर वह नेत्र फेरता है आँख से संकेत करता है) उसको ये अपने वशमें कर लेती हैं ॥ ११ ॥

केशाः संयमिनः श्रुतेरपि परं पारं गते लोचने अन्तर्वक्त्रमपि स्वभावशुचिभिःकीर्णं द्विजानां गणैः । मुक्तानां सतताधिवासरुचिरं वक्षोजकुम्भद्वयमित्थं तन्वि वपुः प्रशांतमपि ते क्षोभं करोत्येव नः ॥ १२ ॥

हे कृशाङ्गि ! तेरा शरीर, जिसमें केश सँवारे हुए हैं, नेत्र कानसे भी पार चले गये हैं (अर्थात् अति विशाल हैं), मुखका अन्तर्भाग भी स्वभावहीसे स्वच्छ दांतोंकी पङ्क्तिसे भरा है, कुम्भकी नाईं (अर्थात् विपुल) दोनों स्तन निरंतर मोतियोंके वाससे (सदा मोतियोंकी माला पहिरनेसे) शोभायमान हैं, शान्त होकर भी मुझे उद्वेजित करते हैं (अनुराग उत्पन्न करता है) ॥ १२ ॥

मुग्धे धानुष्कता केयमपूर्वा त्वयि दृश्यते ।

यदाहरसि चेतांसि गुणैरेव न सायकैः ॥ १३ ॥

हे सुन्दरि ! तेरी यह धनुष-विद्यामें चतुरता अद्भुत ही देख पड़ती है, जो गुण (प्रत्यंचा) अर्थात् चतुरताई से ही चित्तको हरण करती है, बाणोंसे नहीं ॥ १३ ॥

सति प्रदीपे सत्यग्नौ सत्सु ताराखीन्दुषु ।
विना मे मृगशावाक्ष्या तमोभूतमिदं जगत् ॥ १४ ॥

दीपक, अग्नि, तारे, सूर्य और चन्द्रमा, इन सबके रहनेपर भी (एक) मेरी मृगनयनी विना यह संसार अंधेरा है ॥ १४ ॥

यद्वृत्तः स्तनभार एष तरले नेत्रे चले भ्रूलते ।
रागान्धेषु तदोष्ठपल्लवमिदं कुर्वन्तु नाम व्यथाम् ।
सौभाग्याक्षरपंक्तिरेव लिखिता पुष्पायुधेन स्वयं
मध्यस्थापि करोति तापमधिकं रोमावली केन सा ॥ १५ ॥

(हे कामनि) उन्नत कुचोंका भार, चंचल नेत्र, चलायमान भ्रकुटी और ये तेरे अधरपल्लव यदि मदान्धोंको पीड़ा दें तो दें क्योंकि ये सौभाग्यके अक्षरोंकी पंक्ति हैं जिनको कामदेवने (तेरे ललाटमें) लिख दिया है, परन्तु यह मध्यस्थ रोमावली क्यों अधिक ताप करती है [सारांश

यह है कि उन्नत, चंचल और रागवान् सदा पीड़ा देते हैं परन्तु मध्यस्थको तो ऐसा न करना चाहिये] ॥ १५ ॥

गुरुणा स्तनभारेण मुखचन्द्रेण भास्वता ।
शनैश्चराभ्यां पादाभ्यां रेजे ग्रहमयीव सा ॥१६॥

वह स्त्री स्तनोंके भारसे गुरु, प्रकाशवान् मुखसे चंद्र, और दोनों चरणोंसे मन्दगामी (शनैश्चर), ऐसी ग्रह मयी शोभायमान हैं ॥ १६ ॥

तस्या स्तनौ यदि घनौ जघनं विहारि वक्त्रं च चारु तव चित्त किमाकुलत्वम् । पुण्यं कुरुष्व यदि तेपु तवास्ति वाञ्छा पुण्यैर्विना न हि भवन्ति समीहितार्थाः ॥ १७ ॥

हे चित्त ! यदि उस स्त्रीके स्तन कठोर हैं, जघन विहार करने योग्य हैं और मुख सुन्दर है तो (ऐसी स्त्रीको देख कर) तू क्यों व्याकुल होता है ? यदि इनमें (इनको प्राप्त करनेमें) तेरी इच्छा हो तो पुण्य कर क्योंकि पुण्य विना मनोरथ सिद्ध नहीं होते ॥ १७ ॥

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमिदं वदन्तु । सेव्या नितम्बाः किल भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥ १८ ॥

हे श्रेष्ठ पुरुषों ! मत्सरताको त्याग और मर्यादा सहित विचार कर (भला यह तो कहो कि पर्वतके नितंब (मध्यभाग से दने योग्य हैं अथवा कामदेवके उमंगसे मुसुकाती हुई कमिनीके नितंब (कटि पश्चात् भाग) सेवन योग्य हैं ॥ १८ ॥

संसारेऽस्मिन्नसारे परिणतितरले द्वे गती पण्डितानांतत्वज्ञानामृताम्भःप्लुतलुलित धियां यातु कालः कदाचित् । नो चेन्मुग्धांगनानां स्तनजघनभराभोगसंभोगिनीनां स्थूलोपस्थस्थलीषु स्थगितकरतलस्पर्शलीलोद्यतानाम् ॥ १६ ॥

इस असार संसारमें जिसकी अंत अवस्था चंचल है (अर्थात् जो अंतमें नाश होनेवाला है) पंडितोंकी दोही गति उत्तम) हैं । या तो उन लोगोंका समय अच्छी तरह व्यतीत होता है जिनकी निर्मल बुद्धि अमृत रसमें स्नान करनेवाली है, अथवा उनका जो अपने पुष्ट स्तन और जघनसे भोगमें सुख देनेवाली स्त्रियोंके शरीर पर हाथ दिये चंचलतासे उद्योग करते हैं ॥ १६ ॥

मुखेन चन्द्रकान्तेन महानीलैः शिरोरुहैः ।
पाणिभ्यां पद्मरागाभ्यां रेजे रत्नमयीव सा॥२०॥

वह स्त्री चन्द्रकान्त ऐसे मुखसे, महानील ऐसे केशोंसे और पद्मराग ऐसे हस्त युगलोंसे रत्नोंके समान शोभायमान होती हैं (ये तीनों रत्न विशेष हैं ॥ २० ॥

संमोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति निर्भर्त्सयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति । एताः प्रविश्य सदयं हृदयं नराणां किं नाम वामनयना न समाचरन्ति ॥ २१ ॥

ये सुन्दर नेत्रवाली स्त्रियाँ मनुष्यों के दयायुक्त हृदय में प्रवेश करके (उनको) मोह लेती हैं, मत्त कर देती हैं, उनकी विडंबना करती और उनको डाटती हैं, उनको रममाण करातीं और (अपने वियोगसे) उनको विषाद देती हैं— फिर क्या रहा जो ये नहीं करतीं ? ॥ २१ ॥

विश्रम्य विश्रम्य वनद्रुमाणां छायासु तन्वी विचचार काचित् । स्तनोत्तरीयेण करोद्धृतेन निवारयन्ती शशिनो मयूखान् ॥ २२ ॥

वनके वृक्षोंकी छायामें वारंवार विश्राम लेती हुई कृशाङ्गी, हाथसे अपने अंचलोंको (स्तनोंके ऊपरके साड़ी के भागको) हाथमें उठाये और उससे चद्रमाके किरणोंको रोकती हुई जा रही है [यह कृष्णाभिसारिकाका लक्षण है] ॥ २२ ॥

इति स्त्रीप्रशंसा ।

अथ भोगादि लक्षणम् ।

अदर्शने दर्शनमात्रकामा दृष्ट्वा परिष्वंगरसैकलोलाः । आलिंगितायाः पुनरायताक्ष्या-माशास्महे विग्रहयोरभेदम् ॥ २३ ॥

(हम जब तक किसी) मृगनयनी (जिसके सौन्दर्य इत्यादिका वर्णन सुन लेते हैं) नहीं देखते तब केवल उसके देखनेहीकी इच्छा रहती है, देख कर आलिंगनके रसकी लालसा रहती है और आलिंगन करनेपर यही अभिलाषा रहती है कि यह हमारे शरीरसे अलग न हो ॥ २३ ॥

मालती शिरसि जृम्भणोन्मुखी चन्दनं वपुषि कुंकुमान्वितम् । वक्षसि प्रियतमा मनोहरा स्वर्ग एष परिशिष्ट आगतः ॥ २४ ॥

माथेमें शीघ्र ही खिलानेवाले मालतीकी माला पहिने हो, केसर युक्त चंदन शरीरमें लगा हो और प्यारी वक्षःस्थलसे लिपटी हो तो जानो कि स्वर्गका बचा हुआ सुख यहीं आ गया है ॥ २४ ॥

प्राङ्मामेति मनागमानितगुणं जाताभिलाषं ततः सव्रीडं तदनु श्लथोद्यतमनुप्रत्यस्तधैर्यं पुनः । प्रेमार्द्रस्पृहणीयनिर्भररहःक्रीडाप्रगल्भं ततो निः

शंकाङ्गविकर्षणादिकसुखं रम्यं कुलस्त्रीरतम् ॥ २५ ॥

कुल वधूहींसे रति अच्छी होती है जिनमें पहिले एक "बार नहीं नहीं,, करना, फिर अभिलाषा उत्पन्न होना, फिर लज्जा सहित शरीरको ढीला कर देना, फिर धैर्य त्याग देना, प्रेम रसमें सराहने योग्य एकान्त क्रीड़ाका चातुर्य प्रगट करना और फिर निडर होकर अंग खींचने का अधिक सुख लाभ करना इत्यादि मनोहर गुण होतेहैं॥२५॥

उरसि निपतितानां स्रस्तधम्मिल्लकानांमुकुलितनयनानां किंचिदुन्मीलितानाम् । सुरतजनितखेदस्विन्नगण्डस्थलीनामधरमधु वधूनां भाग्यवन्तः पिबन्ति ॥ २६ ॥

छातीपर लेटी हुई, जूड़ा खुली हुई, आधे नेत्र जिनके मुंदेहुए हैं और कुछ कुछ हिल रहे हैं और मैथुनके श्रमसे जिनके गालोंपर पसीना झलक रहा है—ऐसी स्त्रियोंका अधरामृत भाग्यवान ही पुरुष पान करते हैं ॥२६॥

आमीलितनयनानां यः सुरतरसोऽनुसंविदं कुरुते । मिथुनैर्मिथोऽवधारितमवितथमिदमेवकामनिर्वहणम् ॥ २७ ॥

आलस्यसे भरे हुए नेत्रवाली स्त्रियोंका कामसे तृप्त होना ही स्त्री-पुरुष दोनोंका परस्पर कामका पूजन है॥२७॥

इदमनुचितमक्रमश्च पुंसां यदिह जरास्वपि मन्मथा विकाराः। यदपि च न कृतं नितम्बिनीनां स्तनपतनावधि जीवितं रतं वा ॥ २८ ॥

विधिनाने यह अनुचित और उलटा किया है कि पुरुषोंको बुढ़ापेमें भी कामका विकार होता है ऐसा ही स्त्रियोंको न किया कि जब तक उनके स्तन न गिरें तभी तक वो जीयें और कामकी इच्छा रक्खें ॥ २८ ॥

एतत्कामफलं लोके यद्द्वयोरेकचित्तता। अन्यचित्तकृते कामे शवयोरिव संगमः ॥ २९ ॥

संसारमें स्त्री और पुरुष दोनोंका एक चित्त किसी दूसरी ओर रहा तो संगम मृतक के समान होता है ॥२९॥

प्रणयमधुराः प्रेमोद्गाढा रसादलसास्तथा भणितमधुरा मुग्धप्रायाः प्रकाशितसंमदाः। प्रकृतिसुभगा विश्रंभार्हा स्मरोदयदायिनो रहसि किमपि स्वैरालापा हरन्ति मृगीदृशाम् ॥ ३० ॥

मृगनयनियों की सुशीलता से मधुर, प्रेम से ढीले, (शृंगारआदि) रससे आलस्य युक्त, सुननेमें मधुर, अव्यक्त आनन्द प्रकाश करनेवाले स्वभावही से सुन्दर और विश्वासके

योग्य, और कामको उत्पन्न करनेवाले स्वच्छन्द वाक्य एकान्तमें मनको हर लेते हैं ॥ ३० ॥

आवासः क्रियतां गाङ्गे पापवारिणि वारिणि।
स्तनमध्ये तरुण्या वा मनोहारिणि हारिणि ॥ ३१ ॥

हे पुरुष! या तो गंगाजीके पाप हरनेवाले तटपरवास करना उत्तम है अथवा मनोहर हारयुक्त तरुणीके स्तनोंके मध्यमें वास करना श्रेष्ठ है ॥ ३१ ॥

प्रियपुरतो युवतीनां तावत्पदमातनोतु हृदि मानः। भवति न यावच्चंदनतरुसुरभिर्निर्मलः पवनः ॥ ३२ ॥

प्रियके आगे युवती स्त्रियोंका मान हृदयमें तभी तक पैर फैलाता है (अर्थात् हृदयमें मान ठहरता है) जब तक कि चन्दन वृक्षकी सुगन्धित निर्मल वायु नहीं चलती॥३२॥

इति भोगादि लक्षणम्।



अथ वसन्तऋतुवर्णनम्।

परिमलभृतो वाताः शाखा नवांकुरकोटयो
मधुर विरतोत्कण्ठा वाचः प्रिया पिकपक्षिणाम्।

विरलसुरतस्वेदोद्गारा वधूवदनेन्दवः प्रसरति मधौ रात्र्यं जातो न कस्य गुणोदयः ॥३३॥

सुगन्धयुक्त वायु चल रही है, वृक्षोंकी शाखाएँ नये अंकुरोंसे पूर्ण हैं, कोकिल आदि पक्षियोंकी उत्कण्ठाभरी मधुर वाणी सुन्दर जान पड़ती है और स्त्रियोंके चन्द्र समान मुख रति के श्रमसे निकले पसीनेके बूँदोंसे शोभित हो रहे हैं,—ऐसी वसन्त ऋतु की रात्रिमें किस पदार्थमें गुण उत्पन्न नहीं होते ? ॥ ३३ ॥

मधुरयं मधुरैरपि कोकिला, कलकलैर्मलयस्य च वायुभिः । विरहिणः प्रणिहन्ति शरीरिणो विपदि हन्त सुधापि विषायते ॥ ३४ ॥

यह (निर्जीव) वसन्त ऋतु, कोकिलोंके मधुर कलकल (शब्द) से, और मलयाचलकी वायुसे शरीरधारी भी विरही पुरुषोंका वध करता है तो बड़े कष्टकी बात है कि अमृत भी आपत्तिमें विष हो जाता है ॥ ३४ ॥

आवासः किल किंचिदेव दयितापार्श्वे विलासालसः कर्णे कोकिलकाकलीकलरवः स्मेरो लतामण्डपः । गोष्ठी सत्कविभिः समं कतिपयैः

सेव्याः सितांशोः कराः केषांचित्सुखयन्ति नेत्र हृदये चैत्रे विचित्राः क्षपाः ॥ ३५ ॥

किलकिंचत् भाव (जिसमें क्रोध, अश्रुपात; हर्ष इत्यादि भाव एक ही समयमें होते हैं) से विलाससे शिथिल हो दयिताके पास रहना, कानेसे कोकिलोंकी कलकलाहट सुनना, अच्छे कवियोंसे वार्तालाप करना और चाँदनीका सेवन करना (सुख उठाना) इन सामग्रियोंसे चैत्र मासकी विचित्र रात्रियाँ किसी पुण्यवान हीके हृदय और नेत्रोंको सुख देती हैं ॥ ३५ ॥

पान्थस्त्रीविरहानलाहुतिकथामातन्वतीमञ्जरी माकन्देषुपिकाङ्गनाभिरधुना सोत्कण्ठमालोक्यते। अप्येतेनवपाटलाः परिमलाःप्राग्भार पाटच्चरा वांति क्लांति वितानता नवकृतः श्रीखण्डशैलानिलाः ३६॥

इस (वसन्त ऋतु) में कोयलकी वनिता पथिकोंकी विरहिणी स्त्रियोंकी विरहाग्निमें आहुतिकी कथाको विस्तार देने वाली आमकी मंजरीको बड़ी अभिलाषासे देखती है; और नवीन पाटल पुष्पके सुगन्ध समुदायको चुरानेवाले और विरह विस्तारका नया करनेवाले वायु भी गमन करते हैं ॥३६॥

सहकारकुसुमकेसरनिकरभरामोदमूर्च्छितदिगन्ते । मधुरमधुविधुरमधुपे मधौ भवेत्कस्य नोत्कण्ठा ॥ २७ ॥

ऐसे वसन्त ऋतुमें आमके बौरोंकी केसरके समुदायकी सुगंधिसे दिशाएँ व्याप्त हो रही हैं, और जिसमें भ्रमर पुष्पोंके मधुर रसको पीकर उन्मत्त हो रहे हैं, किसके मनमें उत्कण्ठा नही होती ? ॥ २७ ॥

इति वसन्तवर्णनम्।



अथ ग्रीष्मऋतुवर्णनम्।

आच्छाद्र चन्दनरसार्द्रकरा मृगाक्ष्यो धारागृहाणि कुसुमानि च कौमुदी च । मन्दे मरुत्सुमनसः शुचि हर्म्यपृष्ठं ग्रीष्मे मदं च मदनं च विवर्द्धयन्ति ॥ २८ ॥

ऐसी मृगनयनी स्त्रियाँ जिनके हाथ स्वच्छ चंदनके रससे भीगे हैं, फुहारेवाले घर, सुगन्धित पुष्प, चाँदनी, मन्द पवन, सुगन्धित लता और महलकी श्वेत छत ये सब ग्रीष्म ऋतुमें, कामदेवको मदको और बढ़ाते हैं ॥ २८ ॥

स्रजो हृद्यामोदा व्यजनपवनश्चन्द्रकिरणाः।
परागः कासारो मलयजरजः सीधु विशदम्।
शुचिः सौधोत्सङ्गः प्रतनु वसनं पङ्कज दृशो
निदाघे तूर्णं तत्सुखमुपलभन्ते सुकृतिनः ॥३९॥

पुण्यवान् पुरुष ग्रीष्म ऋतुमें अच्छी सुगंधित माला, पंखेकी वायु, चन्द्रमाके किरण, पुष्प पराग, सरोवर, चंदनका रज, उज्वल मद्य, महीने कोमल वस्त्र, बड़े महलकी स्वच्छ ऊँची छत और कमलनयनी सुन्दर स्त्रीको शीघ्र ही प्राप्त करते हैं ॥३९॥

सुधाशुभ्रं धाम स्फुरदमलरश्मिः शशधरः
प्रियावक्त्राम्भोजं मलयजरजश्चातिसुरभिः। स्रजो
हृद्यामोदास्तदिदमखिलं रागिणि जने करोत्यन्तः
क्षोभं न तु विषयसंसर्गविमुखे ॥ ४० ॥

चूनेसे छुहा हुवा श्वेत गृह, दैदीप्यमान स्वच्छ किरणोंवाला चन्द्रमा, प्यारी का मुखकमल, सुगंधित चंदनका रज, सुगंधित पुष्पोंकी माला, ये सब प्रेमी पुरुषोंके हृदयमें क्षोभ (उत्पन्न) करते हैं परन्तु जो विषयके संसर्गसे विमुख हैं उनके हृदयको नहीं ॥ ४० ॥

इति ग्रीष्मऋतुवर्णनम्।

अथ वर्षा ऋतुवर्णनम् ।

तरुणी चैषा दीपितकामा विकसत जाती पुष्पसुगन्धिः ।उन्नतपीनपयोधरभारा प्रावृट् कुरुते कस्य न हर्षम् ॥४१॥

वर्षा ऋतु कामको उद्दीपित करनेवाली, खिले हुए जाती पुष्पको धारण करनेवाली और उन्नत पुष्ट स्तनोंके भारसे युक्त तरुणी स्त्रीकी नाईं किसके (हृदय) में हर्ष उत्पन्न नहीं करती (इस श्लोकमें वर्षाके सब विशेषण तरुणीमें घटते हैं;—यथा जाती, जूही और जावित्रीको कहते हैं और पयोधर मेघ और स्तनको) ॥४१॥

वियदुपचितमेघं भूमयः कन्दलिन्यो नवकुटजकदम्बा मोदिनो गन्धवाहाः । शिखिकुलकलकेकारावरम्या वानान्ताः सुखिनमसुखिनं वा सर्वमुत्कण्ठयन्ति ॥ ४२ ॥

मेघसे अच्छादित आकाश, नये अंकुरांसे पूर्ण पृथ्वी, नवीन कुटज और कदंब (के पुष्प) की गंधसे सुगंधित वायु और मयूर समुदायके अव्यक्त मधुर वाणीसे रमणीय वनके प्रान्त, ये सब वर्षा ऋतुमें सुखी और दुःखी पुरुषोंको उत्कंठा देते (काममोहित करते) हैं ॥४२॥

उपरि घनं घनपटलं तिर्यग्गिरयोऽपि नर्तित मयूराः । वसुधा कंदलधवला दृष्टिः पथिकः क्व यातु संत्रस्तः ॥ ४२ ॥

जिसके ऊपर घनघोर (घटा) छा रही है, दोनों ओर मयूर नाच रहे हैं, और (नीचेकी ओर) पृथ्वी नवीन अंकुरोंसे हरी हो रही है । (अर्थात् जब उनके चारों ओर कामोद्दीपनकी वस्तु वर्तमान है) विरहसे व्याकुल बटोही कैसे संतोप पा सकता है ॥

इतो विद्युद्वल्लीविलसितमितः कैतकितरोः स्फुरद्गन्धः प्रोद्यज्जलदनिनद स्फूर्जितमितः । इतः केकिक्रीडाकलकलरवः पद्मलदृशां कथं यास्यन्त्येते विरहदिवसा; संभृतरसा; ॥ ४३ ॥

कमलनयनी स्त्रियोंके ये रसभरे विरहके दिन कैसे बीतेंगे जिनमें इधर तो विद्युल्लताका विलास है और उधर केतकी वृक्षकी उत्कृष्ट सुगन्धित; इधर मेघोंकी गर्जना और उधर मयूरकी क्रीड़ाका कल कल शब्द ॥४४॥

असूचीसंसारे तमसि नभसि प्रौढजलदध्वनि प्राये तस्मिन् पतित दृषदां नीरनिचये । इदं

सौदामिन्याः कनकमनीयं विलसितं मुदं च ग्लानिञ्चं प्रथयति पथिष्वेव सुदृशाम् ॥ ३५ ॥

श्रावण मासके अंधकारमें जिसमें सूईका भी प्रवेश नहीं हो सकता, बड़े बड़े मेघोंकी गर्जना और पत्थर सहित वृष्टि तथा सुवर्णके समान बिजुलीका बारंबार चमकना स्त्रियोंको मार्गमें (अपने प्रिय बटोहीके संग) सुख और दुःख उत्पन्न करता है ॥ ४५ ॥

आसारेण न हर्म्यतः प्रियतमैर्यातुं बहिः शक्यते शीतोत्कम्पनिमित्तमायतदृशा गाढं समालिंग्यते ।जाताः शीतलशीकराश्च मरुतो वान्त्यन्तखेदच्छिदो धन्यानां बत दुर्दिनं सुदिनतां याति प्रियासंगमे ॥ ४६ ॥

वृष्टिकी झड़ीसे प्रियतमा महलके बाहर नहीं निकल सकतीं और जाड़ा लगता है और कांपती हैं इसलिये गाढ़ आलिंगन करती है, और (मैथुन) के अन्तमें श्रम हरनेवाला शीतल जलसे पूर्ण वायु वह रहा है। अहो ! दुर्दिन भी पुरुषको प्रियाके संग अच्छे दिन होजाताहैं॥४६॥

इति वर्षाऋतुवर्णनम्।

अथ शरद्वर्णनम् ।

अर्द्धं नीत्वा निशायाः सरभस सुरतायास खिन्नश्लथांगः प्रोद्भूतासह्यतृष्णो मधुमदनिरतो हर्म्यं पृष्ठे विविक्ते ॥ संभोगक्लान्तकान्ताशिथिलभुज लतावर्जितं कर्करीतो ज्योत्स्नाभिन्नाच्छधारं पिबतिनसलिलं शारदं मंदभाग्यः ॥ ४७ ॥

वह कामी पुरुष जिसके संग आधी रात तक वेग सहित मैथुन करने से शिथिल हो गये हैं, जिसको प्यास लगी है और जो मद्यमें उन्मत्त हो रहा है, यदि उस समय एकान्त महल की छत। पर संभोग से थकी स्त्रीकी भुजाओं से झारीमें लाकर दिया हुआ चाँदनी के समान स्वच्छ और शीतल जल नहीं पीता; तो वह अवश्य मन्दभागी हैं।।४७।।

इतिशरद्वर्णनम् ।



अथ हेमन्तवर्णनम् ।

हेमन्ते दधिदुग्धसर्पिरशना माञ्जिष्ठवासोभृतः काश्मीरद्रवसान्द्रदिग्धवपुषः खिन्नाः विचित्रैः रतैः । पीनोरःस्थलकामिनीजनकृताश्लेषा गृहा

भ्यन्तरे तांबूलीदलपूगपूरितमुखा धन्याः सुखंशेरते ॥ ४८ ॥

हेमन्त ऋतु में वे ही धन्य पुरुष गृह में (अपनी प्रिय तमाके साथ) सुखसे सोते हैं, जो दही, दध और घीका भोजन करते हैं, मजीठसे रंगे वस्त्र पहनते हैं, केशर कस्तूरी का सघन लेप शरीर में कर विचित्र रति (अनेक प्रकारके आसन भेद) से खिन्न हैं, जो पुष्ट स्तनवाली स्त्री जिनका आलिङ्गन करते हैं और जो पान और सुपारियों से अपने मुखको सुशोभित करते हैं ॥ ४८ ॥

इति हेमन्तवर्णनम् ।



अथ शिशिरः ।

चुम्बन्तो गंगभित्तीरलकवति मुखे सीत्कृतान्यादधाना वक्षःसूत्कंचुकेषु स्तनभरपुलकोद्भेदमापादयन्तः । ऊरूनाकम्पयन्तः पृथुजघन तटात्स्रंसयन्तोऽशुकानि व्यक्तं कान्ताजनानां विटचरितकृतः शैशिरा वान्ति वाताः ॥४९॥

शिशिर ऋतुमें कामीजनके समान आचरण करनेवाले

वायु वहते हैं जो स्त्रियोंके केशयुक्त कपोलोंको चूमते, शीतके कारण सीत्कार शब्द (सीसी) कराते हैं, कंचुकी रहित-स्तनों को रोमाञ्चित करते हैं, जंघोंको कंपाते हैं और पुष्ट जघनोंसे वस्त्रोंको उड़ाते हैं ॥ ४९ ॥

केशानाकुलयन्हशो मुकुलयन्वासो वलादा-क्षिपन्नातन्वन्पुलकोद्गमं प्रकटयन्नुद्वेगकम्पंगतौ। वारंवारमुदारसीत्कृतवशा दन्ताञ्छदान्पीडयन्प्रायः शैशिर एष सम्प्रति मरुत्कान्तासु कान्तायते ॥ ५० ॥

शिशिर ऋतुका पवन इस समय स्त्रियों के विषय पति के ऐसा आचरण करता हैं, (वह) वालों को विखेरता, आँखोंको किञ्चित् करता मूँदता, साड़ीको बलात्कार से उड़ाता, देहको रोमाञ्चित करता, चलने में उद्वेग और वार वार सीसी शब्द कराकर ओठों को पीड़ित करता है ॥ ५० ॥

इति शिशिरवर्णनम्।



अथ विषयप्रशंसा।

असाराः सन्त्वेते विरतिविरसा यासविषया

जुगुप्सन्तां यद्वा ननु सकलदोषास्पदमिति । तथा प्यन्तस्तत्त्वे प्रणिहितधियामप्यतिबलस्तदीयाऽनाख्येयः स्फुरति हृदये कोऽपि महिमा ॥५१॥

ये सब (भोग विषय) असार और वैराग्य में विरस करनेवाले हैं । यदि इनको सब दोषो का घर समझ कर लोग निन्दा भी करें तो भी इनकी महिमा अत्यन्त प्रवल है और वर्णन नहीं हो सकती क्योंकि ब्रह्म विचार में लीन पुरुषों के हृदय में भी यह प्रकाशित होती है ॥ ५१ ॥

भवन्तो वेदान्तप्रणिहितधियामाप्तगुरवो विदग्धालापानां वयमपि कवीनामनुचराः । तथाप्येतद्भूमौ नहि परहितात्पुण्यमधिकं न चास्मिन्संसारे कुवलयदृशो रम्यमपरम् ॥५२॥

आप वेदान्तवेत्ताओं के मान्य गुरु हैं, हम भी अत्युत्तम आलाप करनेवाले कवियोंके दास हैं, तथापि (यह हम जानते हैं) कि इस संसार में परोपकार से बढ़कर पुण्य और कमलनयनी स्त्रियों से अधिक सुन्दर कोई वस्तु नहीं है ॥ ५२ ॥

किमिह बहुभिरुक्तैर्युक्तिशून्यैः प्रलापैर्द्वयमिह पुरुषाणां सर्वदा सेवनीयम् । अभिनवमद

लीलालालसं सुन्दरीणां स्तनभरपरिखिन्नं यौवनं वा वनं वा ।।५३।।

यहाँ (इस संसार में) बहुत सी युक्तिशून्य बकवाद से क्या ? (प्रयोजन है), यहाँ पुरुषों से सर्वदा सेवनकरने योग्य दो ही वस्तु हैं नवीन मदकी लीलाभिलाषिणी स्तनों के भारसे खिन्न (स्वेदयुक्त) सुन्दर स्त्रियों का यौवन अथवा वन ।। ५३ ।।

इति विषयप्रशंसा ।



अथ दुर्विरक्त वर्णनम् ।

सत्यं जना वच्मि न पक्षपाताल्लोकेषु सर्वेषु च तथ्यमेतम् । नान्यान्मनोहारि नितम्बिनीभ्यो दुःखैकहेतुर्नचकश्चिदन्यः ।। ५४ ।।

हे लोगो हम सत्य कहते हैं, इसमें कुछ भी पक्षपात नहीं कि इस संसार में स्त्रियों से बढ़कर मन हरनेवाली और दुःख दाई कोई भी वस्तुनहीं है।। ५४ ।।

तावदेव कृतिनामपि स्फुरत्येष निर्मलविवेक दीपकः । यावदेव न कुरङ्गचक्षुषां ताड्यते चपल लोचनाञ्चलैः ।।५५।।

यह विवेकरूपी निर्मल दीपक, विवेकियों के हृदय में तभी तक प्रकाशमान रहता है जब तक वह मृगनयनी स्त्रियों के चंचल नेत्ररूपी अञ्चलसे नहीं बुझाया जाता ॥ ५५ ॥

वचसि भवति संगत्यागमुद्दिश्य वार्ता श्रुति मुखरमुखानां केवलं पण्डितानाम् । जघनमरुण रत्नग्रन्थिकाञ्चीकलापं कुवलयनयनानां को विहातुं समर्थः ॥५६॥

"संगत्याग" के विषय की वार्ता, बहुत बोलनेवाले पण्डितों के मुखमें ही रहती है (अर्थात् त्याग के विषय में बहुत बोलते ही हैं पर त्याग कर नहीं सकते) क्योंकि लाल रत्नों से जड़ी करधनी पहिरे हुई स्त्रियोंके जघन स्थलोंको छोड़नेमें कौन समर्थ है ? ॥ ५६ ॥

स्वपरप्रतारकोऽसौ निन्दतियोऽलीकपण्डितो युवतीः । यस्मात्तपसोऽपि फलं स्वर्गस्तस्यापिफलं तथाप्सरसः ॥५७॥

जो (पुरुष) स्त्रियोंकी निन्दा करता है वह झूठा पण्डित है, आप तो ठगा ही गया औरोंको भी ठगता है। क्योंकि तपका फल स्वर्ग (प्राप्ति) है और स्वर्गप्राप्तिका फल अप्सराओं का संभोग है ॥ ५७ ॥

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः केचित्प्रचण्ड मृगराज वधेपि दक्षाः । किंतु ब्रवीमि वलिनां पुरतः प्रसह्य कन्दर्प दर्पदलने विरलाः मनुष्याः ॥५८॥

इस संसार में उन्मत्त हाथीके गण्डस्थलको विदीर्ण करनेवाले शूर (वर्तमान) हैं। कोई तो प्रचण्ड सिंहके वधमें भी चतुर हैं। परन्तु मैं वलवानों के आगे हठ करके कहता हूँ कि विरले ही मनुष्य कामदेव के (उत्पन्न हुए) मदको हटा सकते हैं ॥ ५८ ॥

सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्वते तावदेव । भ्रूचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथगता नील पक्ष्माण एते यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिवाणाः पतन्ति ॥५९॥

मनुष्य सन्मार्ग में तभी तक रहता है, तभी तक इन्द्रियोंका प्रभु है (इन्द्रियोंको वश में रख सकता है), तभी तक लज्जाको धारण करता है और तभी तक विनयको भी रखता है। जव तक ये नील पलक रूपी पंख धारण किये, भौंहें रूपी धनुष से छोड़े, कान तक फैले (खींच

कर चलाये हुये) धैर्यको चुरानेवाले लीलावती स्त्रियों के नयन रूपी बाण उसके हृदय में नहीं लगते ॥ ५९ ॥

उन्मत्तप्रेमसरंम्भादारभन्ते यदंगनाः। तत्र प्रत्यूहमांधातुं ब्रह्मापि खलु कातरः ॥६०॥

अत्यन्त प्रेमके उमंगसे उन्मत्त होकर स्त्रियाँ जिस काम को आरंभ कर देती हैं उस कार्यको रोकने में ब्रह्मा भी असमर्थ हैं ॥ ६० ॥

तावन्महत्त्वं पाण्डित्यं कुलीनत्वं विवेकिता। यावज्ज्वलति नाङ्गेषु हंत पञ्चेवपावकः ॥६१॥

(मनुष्य में) बड़ाई, बुद्धिमानी, विवेक और कुलीनता तभी तक रहती हैं जबतक उसका शरीर काम से नहीं जलता ॥ ६१ ॥

शास्त्रज्ञोऽपि प्रथितविनयोऽप्यात्मबोधोऽपिवाढं संसारेऽस्मिन्भवति विरलो भाजनं सद्गतीनाम्। येनैतस्मिन्निरयनगरद्वारमुद्घाटयन्तो वामाक्षीणां भवति कुटिलभ्रूलता कुञ्चिकेव ॥६२॥

इस संसार में शास्त्र जाननेवाले, विनय पूर्वक प्रसिद्ध और ज्ञानी बहुतेरे हैं परन्तु उनमें से विरला ही सद्गति का भागी होता हैं; कारण यह हैं कि यहाँ सुन्दर नेत्रवाली

स्त्रियों की कुटील भौंहें आकर्षण होती हैं जो नरक नगर के द्वार को खोल देती हैं ॥ ६२ ॥

कृशः काणः खंजः श्रवणरहितः पुच्छविकलो व्रणी पूयक्लिन्नः कृमिकुलशतैराप्ततनुः। क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरककपालार्पितगलः शुनीमन्वेति श्वा हतमपि निहन्त्येव मदनः ॥ ६३ ॥

दुबल, काना, लंगड़ा, कनकटा, दुमकटा, घायल, पीव लगा, जिसका शरीर अनगिनत कीड़ों से व्याप्त; भूख का मारा, बुड्ढा, मट्टीके घड़ेका मुँह जिसके गले में फँसा है एसा भी कुत्ता कुतिये के पीछे दौड़ता है। तो तात्पर्य यह हैं कि कामदेव मरेको भी मारता है ॥ ६३ ॥

स्त्रीमुद्रां मकरध्वजस्यपरमां सर्वार्थसम्पत्करी ये मूढाः प्रविहाय यांति कुधियो स्वर्गादिलोभेच्छया। ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं नग्नीकृता मुण्डिताः केचित्पञ्चशिखीकृताश्च जटिलाःकापालिकाश्चापरे ॥ ६४ ॥

स्त्रियाँ कामदेव की मुद्रा (मोहर) हैं जो सब अर्थ और संपत्ति की करनेवाली है (अर्थात् जिस प्रकार राजा की मुद्रा से अंकित आज्ञा पत्रों से सब कार्य संपादन होता

हैं उसी प्रकार स्त्री रूपी मुद्रा से कामदेव अपना कार्य करता है) जो मूढ़ कुबुद्धि इन्हें त्याग स्वर्गादिककी इच्छासे विरक्त हो जाते हैं उनको विरक्त वेषोंमें मत जानो किन्तु यह समझो कि कामदेवने दया छोड़ उन्हें दंड देकर नंगा किया सिर मुड़वाया, किसीके पाँच चोटी रखाई, किसीको जटा-धारी किया, किसी के हाथ में ठिकरा दे भीख मँगवाया॥६४॥

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना
स्तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः
शाल्यन्नं स घृतं पयोदधियुतं भुञ्जन्ति ये मा
नवास्तेषामिंद्रियनिग्रहो यदि भवेद्विन्ध्यस्तरे
त्सागरं ॥६५॥

जब वे वायुजल और पत्तों के खानेवाले विश्वामित्र, पराशर इत्यादि (बड़े बड़े ऋषि) भी सुललित स्त्रीके मुखकमलको देखते ही मोहित हो गये तो यदि इन मनुष्यों को जो अन्न, घी, दध इत्यादि खाते हैं, इन्द्रियाँ वश में हो जायँ तो (ऐसी आश्चर्ययुक्त घटना होवे जैसे) विन्ध्याचल पर्वत समुद्र पर तैरने लगे ॥ ६५ ॥

इति दुर्विरक्तप्रशंसा।



अथ स्त्रीपरित्यागप्रशंसा ।

संसारेऽस्मिन्नसारे कुनृपतिभुवनद्वारसेवावल
म्बव्यासंग व्यस्तधैर्यं कथममलधियो मानसं सं
विदध्युः । यद्येताः प्रोद्यदिंदुद्युतिनियभृतो न
स्युरम्भोजनेत्राः प्रेङ्खत्काञ्चीकलापाःस्तनभरविन
मन्मध्यभागास्तरुण्यः ॥६६॥

इस असार संसार में निर्मल बुद्धिवाले मनुष्य दुष्ट राजाओं की द्वारसेवा नाना प्रकारके कलंकों से अधीर चित्त हो क्यों करते यदि यहाँ ये उदित चंन्द्रमा की ऐसी कान्ति धारण करनेवाली, शब्दायमान करधनियों की धारण करनेवाली और स्तनभार से झुकी कटिवाली स्त्रियां न होतीं (तात्पर्य यह है कि इस असार संसार में बड़े बड़े कष्ट हैं परन्तु सुन्दर स्त्री होके होने के कारण मनुष्य सब दुःखों को सुखसे झेलता है) ६६ ॥

सिद्धध्यासितकन्दरे हरवृषस्कन्धावगाढद्रुमे
गङ्गाधौत शिलातले हिमवतः स्थानेस्थिते श्रेय
सि । कः कुर्वीत शिरः प्रणाममलिनं म्लानं मनं
स्वीजनो यद्वित्रस्तकुरङ्ग शावनयना नस्युः स्म
रास्त्रं स्त्रियः ॥६७॥

यदि यहां (इस संसार में) हरिण के बच्चे के समान नेत्रवाली, कामकी अस्त्ररूप स्त्रियाँ न होतीं तो कौन मनस्वी पुरुष ऐसे पुण्यधाम हिमालय को, जिसकी कन्दरा में सिद्ध गण बैठे हैं, जहाँ शिवजी का बैल वृक्षों में कंधा रगड़ता है और जहाँके पत्थर गंगाजल से धोये जाते हैं, छोड़कर औरों के सन्मुख) मस्तक झुका कर अपना मन मलीन करता ॥ ६७ ॥

संसारोदधिं तव निस्तारपदवीं न दवीयसी ।
अन्तरा दुस्ता न स्युर्यदिरे मदिरेक्षणाः ॥६८॥

हे संसार ! यदि तुम्हारे बीचमें मदिरा के समान नेत्रवाली स्त्रियाँ दुस्तर न होतीं तो तेरी पार करने की स्थिति अति दीर्घ न होती (अर्थात् तब तुझसे पार होना कठिन न था) ॥ ६८ ॥

इति स्त्रीपरित्यागप्रशंसा ।



अथ यौवन प्रशंसा ।

राजन्तृणाम्बुराशेर्नहि जगतिगतः कश्चिदेवावसानं को वार्थोऽर्थैः प्रभूतैः स्ववपुषि गलिते यौवने सानुरागे । गच्छामः सद्म तावद्विकसि

तनयनेन्दीवरालोकिनीनां यावच्चाक्रम्य रूपं झटिति न जरया लुप्यते प्रेयसीनाम् ॥६९॥

हे राजन् ! इस संसार में तृष्णारूपी समुद्रके पार कोई नहीं गया, और जब हमारी अनुराग भरी युवा अवस्था शरीर में ही नष्ट हो गई है तो अधिक धनोपार्जनसे हमें क्या प्रयोजन हैं। तो हम अभी ही घर जाते हैं कि जिसमें बुढ़ापा प्रफुल्ल कमलके समाने नेत्रवाली प्यारियों का रूप शीघ्र ही लोप कर दे ॥ ६९ ॥

रागस्यागारमेकं नरकशतमहादुःखसंप्राप्तिहेतुर्मोहस्योत्पत्तिबीजं जलधरपटलं ज्ञानताराधिपस्य। कन्दर्पस्यैक मित्रं प्रकटितविविधस्पष्टदोषप्रबन्धं लोकेऽस्मिन्नह्यनर्थं निजकुलदहनं यौवनादन्यदस्ति ॥७०॥

इस संसार में यौवन को छोड़ अपने ही कुलके दहन करनेवाला दूसरा कोई अनर्थ (अनर्थकर) न हीं हैं,—यौवन जो अनुराग का घर है, सैकड़ों नरकों के बडे दुःख प्राप्त करने का हेतु, मोहकी उत्पत्ति का बीज ज्ञानरूपी चन्द्रमा के ढाकनेवाला मेघ, कामदेव का एक ही मित्र नाना प्रकार के दोषों को प्रगट करनेवाला, वैराग्य और नीतिका हरण करनेवाला है ॥ ७० ॥

श्रृंङ्गारद्रुमनीरदे प्रचुरतः क्रीडारसस्रोतसि प्रद्युम्नप्रिय बान्धवे चतुरतामुक्ताफलोदन्वति । तन्वीनेत्रचकोर पारणाविधौ सौभाग्यलक्ष्मीनिधौ धन्यः कोऽपि न विक्रियां कलयति प्राप्ते नवे यौवने ॥७१॥

वह पुरुष धन्य है जो नवयौवन प्राप्त होने पर विकार को नहीं करता—ऐसा यौवन जो श्रृंगाररूपी वृक्षों का सींचनेवाला मेघ है, विस्तारित क्रीड़ा रसका सोता, कामदेव का प्रिय बंधु चतुरतारूपी मोतियों का समुद्र, स्त्रियों की नेत्ररूपी चकोरोंका चंद्रमा और सौभाग्यलक्ष्मी का भण्डार है ॥ ७१ ॥

इति यौवनप्रशंसा ।



अथ कामिनीगर्हणम् ।

कान्तेत्युत्पललोचनेति विपुलश्रोणीभरेत्युत्सुकः पीनोत्तुङ्गपयोधरेति सुमुखाम्भोजेति सुभ्रूरिति । दृष्ट्वा माद्यति मोदतेऽभिरमते प्रस्तौति जानन्नपि प्रत्यक्षाशुचिपुत्रिकां स्त्रियमहो मोहस्य दुश्चेष्टितम् ॥७२॥

(विद्वान् पुरुष भी) स्त्रीको अपवित्रता की प्रत्यक्ष पुतली जानता हुआ भी उसे देखकर उत्कंठित हो उसे सुन्दर, कमलनयनी, बड़े नितंबवाली, बड़े स्थूल और दृढ़ स्तनवाली, सुन्दर कमलमुखी और सुन्दरभौंह वाली कह कर स्तुति करता है, देखकर मोहित होता है, प्रसन्न होता है और रमण करता है ॥ ७२ ॥

स्मृता भवति तापाय दृष्टा चोन्मादवर्धिनी।
स्पृष्टा भवति मोहाय सा नाम दयिता कथम्॥७३॥

जो स्मरण से संताप देती है, देखने से उन्माद बढ़ाती है (मतवाला बनाती है) और स्पर्श से मोहित कर लेती है ऐसी स्त्रीको प्रिया कैसे कहते हैं ॥ ७३ ॥

तावदेवामृतमयी यावल्लोचनगोचरा। चक्षुः
पथादपगता विषादप्यतिरिच्यते ॥७४॥

(स्त्री) तभी तक अमृतमय है जब तक वह दृष्टिगोचर है (अर्थात् दृष्टिके सामने है) और दृष्टि मार्ग से हट जाने पर विष से अधिक हो जाती है (अर्थात् विरह से कष्ट देती है) ॥ ७४ ॥

नामृतं न विषं किंचिदेकां मुक्त्वा नितम्बि
नीम्। सैवामृतलता रक्ता विरक्ता विषवल्लरी॥७५॥

एक नितंबिनी (स्त्री) को छोड़ न कुछ अमृत है (अमृत के समान सुखकारी वस्तु) और न कोई विष (दुखकारी वस्तु) क्योंकि यदि वे ही प्रीति करें तो अमृतलता और विरक्त हो जाने पर विपकी मंजरी होती हैं ॥ ७५ ॥

आवर्तः संशयानामविनयभवनं पत्तनं साहसानां दोषाणां सन्निधानं कपटशतमयं चेत्रम प्रत्ययानाम् । स्वर्गद्वारस्य विघ्नो नरकपुरमुखं सर्वमायाकरण्डं स्त्रीयन्त्रं केन सृष्टं विषमम्तृतमयं प्राणिनां मोहपाशः ॥ ७६ ॥

यह स्त्रीरूपी यन्त्र और अमृतमय प्राणियों के मोहका फन्दा किसने बनाया ? जो सँशयों का भँवर है, अविनय का घर, साहस का नगर, दोषों का स्थान, दुर्गुणों का सैकड़ों कपटों से भरा खेत, स्वर्गका विघ्न, नरकपुरका मुख (द्वार) और सब मायाका पिटारा है ॥ ७६ ॥

सत्यत्वेन शशाङ्क एष वदनीभूतो नचेन्दीवर द्वन्द्वं लोचनतां गतं न कनकैरप्यंगयष्टिः कृता।
किन्त्वेवं कविभिः प्रतारितमनस्तत्वं विजानन्नपित्वङ्मांसास्थि मयं वपुर्मृगदृशां मंदो जनः सेवते ॥७७॥

सचमुच में न तो यह चन्द्रमा (स्त्रियों का) मुख बन गया, न नये दो कमल आँख हो गये और न सुवर्ण इनकी देह बन गया। परन्तु यह जानकर भी कवियों के बहकाये विवेकहीन पुरुष, स्त्रियों के चर्म अस्थि और माँसमय शरीर को सेवते हैं ॥ ७७ ॥

लीलावतीनां सहजा विलासास्तएव मूढस्य हृदि स्फुरन्ति। रागो नलिन्याहि निसर्गसिद्ध स्तत्र भ्रमत्येव मुधा षडंघ्रिः ॥ ७८ ॥

लीलावती स्त्रियोंका सहज (स्वभावसे ही उत्पन्न हुआ) हावभाव ही मूढोंके हृदय में चमकता है। कमलमें ललाई स्वाभाविक है परन्तु भ्रमर व्यर्थ ही (इसको अपने ही लिये बनी जानकर) इनपर (आसक्त होकर) भ्रमण करते हैं ॥ ७८ ॥

यदेतत्पूर्णेन्दुद्युतिहरमुदाराकृति वरं मुखाब्जं तन्वंग्याः किल वसति तत्राधरमधुः। इदं ताव त्पाकद्रुमफलमिवातीव विरसं व्यतीतेऽस्मिन्काले विषमिव भविष्यत्यसुखदम् ॥७९॥

यह जो कृशांगियोंका पूर्णचन्द्रकी छविको हरनेवाला सरल आकृतिवाला श्रेष्ठ मुखकमल है जिसमें अधरामृत

रहता है, वह तो (युवा अवस्थामें अच्छा लगता है परन्तु) काल व्यतीत होनेपर (अर्थात् वृद्धावस्था प्राप्त करनेपर) मदारके फलके समान अति विरस विषके समान दुःख-कारी होता है ॥ ७९ ॥

उन्मीलत्त्रिवलीतरङ्गनिलया प्रोत्तुङ्गपीनस्तन
द्वन्द्वेनोद्यतचक्रवाकमिथुनावक्त्राम्बुजोद्भासिनी।
कान्ताकारधरा नदीयमभितः क्राशयानेष्यते सं
सारार्णवमज्जनं यदि ततो दूरेण संत्यज्यताम्॥८०॥

हे पुरुषो। यदि तुम संसार सागरमें मग्न हुआ नहीं चाहते हो तो दूरहीसे इस स्त्री रूपी नदीका त्याग कर दो (अर्थात् जैसे नदियोंमें जो वस्तु गिरती हैं वह अन्तमें समुद्रको जाती हैं उसी प्रकारसे इस नदीमें पड़कर ही मनुष्य संसाररूपी समुद्रमें सहजमें अपना समय व्यतीत कर सकता है) ये नदियाँ जिनमें शोभित उदरकी त्रिवली ही लहरका समूह है, ऊँचे और पुष्ट दोनों स्तन ही चक्रवाकके जोडे हैं और जिनका गम्भीर आशय मुखरूपी कमलसे शोभित है और जिनके चारो ओर क्रूराशय हैं (नदी पक्षमें कछुवा, मगर इत्यादि और स्त्रीपक्षमें कठिनाशय) ॥ ८० ॥

जल्पन्ति सार्द्धमन्येन पश्यन्त्यन्यं सविभ्र

भाः । हृदये-चिंयन्तन्त्यन्यं प्रियः को नाम योषि
ताम् ॥ ८१ ॥

स्त्रियोंका (सचमुच) प्रिय कौन है, जब ये किसी अन्य ही पुरुषसे बातें करती हैं और विलास सहित किसी और हीको देखती हैं और हृदयमें किसी और हीकी चिन्ता करती हैं ॥ ८१ ॥

मधु तिष्ठति वाचि योषितां हृदि हालाहल
मेव केवलं । अतएव निपीयतेऽधरो हृदयं मुष्टि
भिरेव ताड्यते ॥ ८२ ॥

स्त्रियोंकी वाणीमें मधु और हृदयमें केवल हलाहल विष रहता है इसी कारण (मनुष्य लोगोंसे) इनका अधर-पान किया जाता है और हृदय मुष्टियोंसे ताड़ित किया किया जाता है ॥ ८२ ॥

अपसर सखे दूरादस्मात्कटाक्षविषानलात्प्रकृ
तिविषमाद्योषित्सर्पाद्विलासफणाभृतः। इतरफणि
ना दष्टाः शक्याश्चिकित्सितुमौषधैश्चतुरवनिता
भोगिग्रस्तं त्यजन्तिहि मंत्रिणः ॥ ८३ ॥

हे मित्र ! कटाक्ष विषानल धारण करनेवाले, स्वभाव हीसे विषम, विलासके फन धारण करनेवाले, स्त्रीरूपी सूर्यसे

दूर भागो; (क्योंकि) अन्य सर्पोंका काटा हुआ औषधियोंसे अच्छा हो सकता है परन्तु चतुर स्त्रीरूपी सर्पसे डसे हुओंको मन्त्र जाननेवाले भी छोड़कर भागते हैं ॥ ८३ ॥

विस्तारितं मकरकेतनधीवरेण, स्त्रीसंज्ञितं बडिशम त्र भवाम्बुराशौ। येनाचिरात्तदधरामिषलोल मर्त्य, मत्स्यान्विकृष्य पचतीत्यनुरागवह्नौ ॥८४॥

इस भवसागरमें कामरूपी केवटने स्त्रीरूपी जालको इसलिये फैलाया है कि वह इनके द्वारा अधर पल्लवके मांस के लोभी मनुष्यरूपी मछलियां को पकड़कर अनुरागकी अग्निमें पकावे ॥ ८४ ॥

कामिनीकायकान्तारे कुचपर्वत दुर्गमे। मा संचर मनःपान्थ तत्रास्ते स्मरतस्करः ॥८५॥

हे मनरूपी पथिक ! तू स्त्रियों के शरीररूपी वनमें जो स्तनरूपी पर्वतों से अति दुर्गम है, मत जा (क्योंकि) वहाँ कामदेवरूपी चोर लगते हैं (जो तुझे लूटपाट कर मार डालेंगे) ॥ ८५ ॥

व्यादीर्घेण चलेन वक्रगतिना तेजस्विना भोगिना नीलाब्जद्युतिनाहिना वरमहं दष्टो न तच्चक्षुषा। दष्टे संति चिकित्सका दिशिदिशि

प्रायेण धर्मार्थिनो मुग्धाक्षी क्षणवीक्षितस्य नहि मे वैद्यो न चाप्यौषधम् ॥ ८६ ॥

बडे, लम्बे चौडे, टेढ़ी चालवाले और तेजवाले नीलकमलके ऐसे फणधारी सर्प से काटा हुआ (मनुष्य) अच्छा है, परन्तु स्त्रीके कटाक्षसे काटा हुआ अच्छा नहीं, क्योंकि प्रायः सब देश में साँप के डसे हुए को बचानेवाले धर्मार्थी होते हैं परन्तु सुन्दर नेत्रवाली स्त्रीकी दृष्टि से काटे हुए को बचाने के लिये न तो कोई वैद्य है और न कोई औषधि है ॥ ८६ ॥

इहहि मधुरगीतं नृत्यमेतद्रसोऽयं स्फुरति परिमलोऽसौ स्पर्श एष स्तनानाम् । इति हतपरमार्थैरिन्द्रियैर्भ्राम्यमाणोह्यहितकरणदक्षैः पञ्चभिर्वञ्चितोऽस्मि ॥ ८७ ॥

इस संसार में मधुर गीत (जो कर्णेन्द्रियका विषय है), यह नाच (चक्षुका विषय), यह स्वाद (जिह्वा का विषय), यह सुगन्ध (घ्राण का विषय) यह स्तनों का स्पर्श (त्वगेन्द्रियका विषय) ये पाँचों इन्द्रियों के पाँच विषय हैं। हे राजन ! इन पाँचों विषयों में भ्रमण करनेवाली, परमार्थ को नष्ट करनेवाली और प्रयोजन साधन में अति धूर्त पाँचों इन्द्रियों से तू ठगा गया है ॥ ८७ ॥

न गम्यो मन्त्राणां न च भवति भैषज्यविषयो न चापि प्रध्वंसं व्रजति विविधैः शान्तिकशतैः । भ्रमावेशादङ्गे किमपि विदधद्भङ्ग्यमसमं स्मरोपस्मारोऽयं भ्रमयति दृशं घूर्णयति च ॥८८॥

यह कामदेवरूपी अपस्मार (मृगीरोग) में जो भ्रम के आवेश में शरीर को दुखाता, मनको भ्रमाता और नेत्रों को घुमाता है न तो मन्त्रों की कुछ गति है न औषधि कुछ काम कर सकती है और न अनेक प्रकारकी शान्ति (पाठ पूजन इत्यादि) इसका नाश कर सकती है ॥ ८८ ॥

जात्यन्धाय च दुर्मुखाय च जराजीर्णाखिलाङ्गाय च ग्रामीणाय च दुष्कुलाय च गलत्कुष्ठाभिभूताय च । यच्छन्तीषु मनोहरं निजवपुर्लक्ष्मीलवश्रद्धया पण्यस्त्रीषु विवेककल्पलतिका शस्त्रीषु रज्येत कः ॥ ८९ ॥

कौन (बुद्धिमान् पुरुष) ऐसी वेश्याओं से रमणकी इच्छा करेगा जो जन्मकी अन्धी, कुरूप वृद्धावस्था से शिथिल गँवार और नीच जातिकी हैं, जो थोड़े से धनके कारण अपनी सुन्दर देह समर्पण कर देती हैं और जो विवेकरूपी

लताकी छुरीके समान हैं (अर्थात् जो सदा विवेक को काटने के लिये प्रस्तुत हैं ॥ ८६ ॥

वेश्यासौ मदनज्वाला रूपेन्धनसमेधिता।
कामिभिर्यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानिच ॥ ६० ॥

वह वेश्या तो सुन्दरता रूपी इन्धन से प्रज्वलित कामाग्निकी ज्वाला है और इसमें कामीजन अपना धन और यौवन होम करते हैं ॥ ६० ॥

कश्चुम्बति कुलपुरुषो वेश्याधरपल्लवं मनोज्ञमपि । चारभटचौरचेटकनटविटनिष्ठीवनशरावम् ॥ ६१ ॥

कौन कुलीन पुरुष वेश्याओं के सुन्दर अधर पल्लव को जो ठग योद्धा, चोर, दास, नट, नीच और जारों के थूकने का पात्र है, चुम्बन करता है ॥ ६१ ॥

इति कामिनीनिगर्हणम् ।



अथ सुविरक्तप्रशंसा ।

धन्यास्तएव तरलायतलोचनानां तारुण्यरूप घन पीनपयोधराणाम् । क्षामोदरोपरिलसत्त्रिवली

लतानां दृष्ट्वाकृतिं विकृतिमेति मनो न येषाम् ॥ ६२ ॥

वे धन्य हैं जिनका मन चंचल, विशाल नेत्रवाली, तरुण, रूपवान् और दृढ़ स्तनवाली, और जिनके क्षीण उदरपर त्रिवलीलता शोभती है ऐसी स्त्रियोंको देखकर, विकार को नहीं प्राप्त होता ॥ ६२ ॥

बालेलीला मुकुलितममी सुन्दरा दृष्टिपाताः
किं क्षिप्यन्ते विरम विरम व्यर्थ एष श्रमस्ते ।
सम्प्रत्यन्ये वयमुपरतं बाल्यमास्थावनान्ते क्षीणो
मोहस्तृणमिव जगज्जाल मालोकयामः ॥ ६३ ॥

हे बाले ! तू लीलासे मुकुलित (थोड़े खिले) और सुन्दर कटाक्ष क्यों मुझ पर फेंकती है । जाने दे जाने दे तेरा यह श्रम व्यर्थ है, क्योंकि अब हम कुछ और हो गये, लड़कपन हमारा जाता रहा, वनमें हम रहते हैं, मोह भी क्षीण हो गया और अब हम संसार के जालको तृण के समान देखते हैं (अर्थात् इस संसारको असार जानते हैं और इसमें कुछ तत्व नहीं देखते ॥ ६३ ॥

इयं बालामां प्रत्यनवरत मिन्दीवरदल प्रभा
चोरंचक्षुः क्षिपति किमभिप्रेतमनया । गतो मो

होऽस्माकं स्मर शवरवाण व्यतिकरज्वलज्ज्वालाः शान्तास्तदपि न वराकी विरमति ॥ ९४ ॥

यह वाला (स्त्री) जो मुझ पर कमल दलकी प्रभा को चुरानेवाली (अर्थात् तिरस्कार करनेवाली) दृष्टि को फेंकती है तो इसका क्या अभिप्राय है। हमारा मोह (अज्ञान) अब चला गया है और कामदेवरूपी शवरके वाणों से निकली हुई अग्नि शान्त हो गई है तौ भी यह बाला विरामको प्राप्त नहीं होती (अर्थात् कटाक्ष फेंकती ही जाती है)॥९४॥

शुभ्रं सद्म सविभ्रमा युवतयः श्वेतातपत्रोज्ज्वला लक्ष्मीरित्यनुभूयते स्थिरमिवस्फीते शुभे कर्मणि। विच्छिन्ने नितरामनङ्ग कलह क्रीडा त्रुटत्तन्तुकं मुक्ताजाल मिव प्रयाति झटितिभ्रश्याद्दिशो दृश्यताम् ॥ ९५ ॥

स्वच्छ गृह, हावभावयुक्त नवाङ्गना, और श्वेत छत्र-सहित शोभायमान लक्ष्मी, ये तभी तक स्थिरतासे भोगी जाती हैं जबतक पुण्यकी वृद्धि रहती है। परन्तु जब पुण्य क्षयको प्राप्त होता है तब सम्पूर्ण भोगविलास कामदेवकी क्रीड़ा के कलह से टूटे हारके मोतियों की नाईं शीघ्र ही भ्रष्ट होकर देशान्तर में लुप्त हो जाते हैं ॥ ९५ ॥

सदा योगाभ्यासव्यसनवशयोरात्ममनसो रविच्छिन्ना मैत्री स्फुरति यमिनस्तस्य किमु तैः प्रियाणामालापैरधरमधुभिर्वक्त्रविधुभिः सनिश्वासामोदैः सकुचकलशा श्लेषसुरतैः ॥ ९६ ॥

संयमी (इन्द्रियों को वश में करनेवाले) पुरुषों को जिनके आत्मा और मनको सदा योगाभ्यास ही के व्यसन से निरन्तर मित्रता प्रकट होती है, (उन्हें) प्रिय स्त्रियोंके संभाषण, अधरामृत, श्वास के सुगन्ध सहित मुखचन्द्र और कुचकलशों को हृदय से लगाकर सुरत से क्या प्रयोजन है ॥ ९६ ॥

किं कन्दर्पकरं कदर्थयसि किं कोदण्डभङ्कारिते रे रे कोकिल कोमलं कलरवं किंत्वं वृथावल्गसे। मुग्धेस्निग्ध विदग्धमुग्ध मधुरैर्लोलैः कटाक्षैरलं चेतश्चुम्बित चन्द्रचूडचरण ध्यानामृतं वर्तते ॥ ९७ ॥

अरे कामदेव ! तू अपने धनुष के टंकार के शब्दों से हमें क्यों त्रास देता है, अरे कोकिल ! तू वृथा कोमल मधुर शब्दों को बोलता है और हे सुन्दरी ! तू अब चतुरता से भरे सुन्दर मधुर शब्दों को बोलता है और हे सुन्दरी ! तू

अब चतुरता से भरे सुन्दर मधुर चंचल कटाक्षों को मत फेंक क्योंकि अब मेरा मन चुम्बित चन्द्रचूड़ (शिव) के चरणों के ध्यानरूपी अमृत में निमग्न हैं ॥ ९७ ॥

यदासीदज्ञानं स्मरतिमिर संचार जनितं त
दासर्वं नारीमय मिदमशेषं जगदभूत इदानीम
स्माकं पटुतर विवेकाञ्जनदृशां समीभूता दृष्टि
स्त्रिभुवनमपि ब्रह्म मनुते ॥ ९८ ॥

जब तक (मुझमें) कामदेवरूपी अन्धकार के संचार से उत्पन्न हुआ अज्ञान था तब तक यह संपूर्ण संसार स्त्रीमय देख पड़ता था। परन्तु अब हमारे सुन्दर विवेकरूपी अंजन के लगाये नेत्रों की दृष्टि समता को प्राप्त हो गई है अब त्रैलोक्य ब्रम्ह मय देख पड़ता है ॥ ९८ ॥

वैराग्ये सञ्चरत्येके नीतौ भ्रमति चापरः ।
शृङ्गारे रमते कश्चिद्भुवि भेदाः परस्परम् ९९॥

कोई पुरुष वैराग्य में संचार करता है, कोई नीति में भ्रमण करता है और कोई शृङ्गार में रमता है। इस प्रकार मनुष्यों की इच्छा भिन्न है (इस श्लोक से कविका अभिप्राय यह है कि इन तीनों की रुचिवाले मनुष्यों के लिये ये तीनों शतक बनाये गये हैं) ॥ ९९ ॥

यद्यस्यनास्ति रुचिरं तस्मिंस्तथा स्पृहा मनो

ज्ञेऽपि । रमणीयेऽपिसुधांशौ नमनः कामः सरो जिन्यः ॥ १०० ॥

जो वस्तु जिसको प्रिय नहीं होती चाहे वह सुन्दर हो तो भी उसकी इच्छा उसके लिये नहीं है। चन्द्रमा रमणीय है तो भी कमलिनी को इसकी इच्छा नहीं होती । अर्थात् कमलिनी चन्द्रमाको देख प्रफुल्लित नहीं होती ॥ १०० ॥

इति श्रीमद्भर्तृहरि विरचितं श्रृङ्गारशतकं समाप्तम् ।



परिशिष्ट श्लोकाः ।

अजितात्मासु सम्बद्धः समाधिकृतचापलः ।
भुजङ्गकुटिलः स्तब्धो भ्रूविक्षेपः खलायते॥१०१॥

अजितेन्द्रिय (मनुष्यों) से संबन्ध रखनेवाला, समाधिसे अधिक चंचलता प्रकट करनेवाला सर्प के समान कुटिल और स्तब्ध इन स्त्रियों का कटाक्ष दुष्ट के समान आचरण करता है ॥ १०१ ॥

मत्तेभकुम्भपरिणाहिनि कुंकुमार्द्रे कान्तापयोधरतटे रसखेद खिन्नः। वक्षोनिधाय भुजपञ्जरमध्यवर्ती धन्यः क्षपां क्षपयति क्षणलब्धनिद्रः॥१०२॥

वह पुरुष धन्य है जो रसखेद से खिन्न होकर उन्मत्त हाथी के कुम्भों की नाईं विस्तीर्ण तथा कुंकुम से भीजे

स्त्री के स्तनोंपर अपने वक्षः स्थल को रख कर स्त्री के भुजा-रूपी पिंजडे के वीचमें रहकर क्षणमात्र भी निद्रा को प्राप्त करके रात्रि व्यतीत करते हैं ॥ १०२ ॥

सुधामयोऽपि क्षयरोगशान्त्यै नासाग्रमुक्ता फलकच्छलेन । अनङ्ग संजीवनदृष्टिशक्तिर्मुखामृतं ते पिबतीव चन्द्रः ॥ १०३ ॥

हे सुन्दरि ! ऐसा जान पड़ता है कि अमृतमय चन्द्रमा भी जो कामदेव के चैतन्य करने की दृष्टि सामर्थ्य रखता है, क्षयरोग की शान्ति के लिये नासिका के मोती के वहाने तेरे अधरामृत का पान करता है (वैद्य लोग क्षयरोग निवारण के लिये मोती खिलाते हैं) ॥ १०३ ॥

दिश वनहरिणीभ्यो वंशकाण्डच्छवीनां कवलमुपलकोटिच्छिन्नमूलंकुशानाम् । शुक युवतिकपोला पाण्डु ताम्बूलवल्लीदलमरुणनखाग्रैः पाटितं वा वधूभ्यः ॥ १०४ ॥

हे मनुष्यो ! तुम तो वनकी मृगियों को (खाने के लिये) वाँसकी गाँठ के समान छविवाले पत्थर के अग्रभाग से कटे मूलवाला कुशका ग्रास दो अथवा नवयुवा स्त्रियों के लिये नखों से तोड़े शुकयुवती के कपोल के समान पाण्डु वर्णवाले उत्तम ताम्बूल के पत्र दो ॥ १०४ ॥

अथ वैराग्यशतकम् ।

मंगलाचरणम् ।

चूडोत्तंसितचारुचन्द्रकलिकाचञ्चच्छिखाभास्वरो लीलादग्धविलोलकामशलभः श्रेयोदशाग्रे स्फुरन् । अन्तः स्फूर्जदपारमोह तिमिरप्राग्भारमुच्चाटयन् चेतः सद्मनि योगिनां विजयते ज्ञान प्रदीपो हरः ॥ १ ॥

शिवजी जिनकी जटा में भूषणभूत सुन्दर चन्द्रकी किरणें शोभायमान हैं और जो चंचल कामदेव रूपी पतंग को लीलासे ही जला देते हैं, कल्याण की स्फूर्ति करते हुए और अन्तः करणमें स्थित मोहरुपी अन्धकार को हटाते हुए, योगियों के मनरूपी घरमें ज्ञानरूपी दीपक का प्रकाश करते हैं ॥ १ ॥



अथ तृष्णादूषणम् ।

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः ।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम् ॥२॥

पण्डित लोग (जिन्हें सत् असत् का ज्ञान है) ईर्षा से ग्रस्त हैं, धनी लोग गर्वसे दूषित हैं (अर्थात् गर्व के कारण वे गुणका आदर नहीं करते) और अन्य (साधारण) लोग अज्ञानके मारे हैं (ज्ञान रहित हैं) (इसी कारणसे) सुभाषित (उत्तम काव्य) अंग ही में जीर्ण होता है (अर्थात् मनही में रहता है और वहीं नष्ट हो जाता है, वाणी द्वारा बाहर नहीं निकलता) सारांश यह है कवियों को कोई उत्साह देनेवाला नहीं है, अतएव उनकी कविता मनके मनहीमें रह जाती है ॥ २ ॥

न संसारोत्पन्नं चरितमनुश्यामि कुशलं
विपाकः पुण्यानां जनयति भयं मे विमृशतः ।
महद्भिः पुण्यौघैश्चिरपरिगृहीतांश्च विषया महा-
न्तो जायन्ते व्यसनमिव दातुं विषयिणाम् ॥३॥

हम संसार से उत्पन्न चरित्रों को कल्याणकारक नहीं देखते और विचार करने पर पुनीत कर्मों का फल (अर्थात् स्वर्गादि भी) हमें भयरुप देख पड़ता है । (क्योंकि पुण्योंके व्यतीत होने पर स्वर्ग से भी पतन होता है) बड़े २ पुण्यों के समूहसे चिरकाल से सञ्चित किये हुए विषय भी अन्त में विषयी पुरुष को दुःख ही देते हैं ॥ ३ ॥

उत्खातं निधिशङ्कया क्षितितलं ध्माता गिरे

धातवो निस्तीर्णः सरितांपतिर्नृपतयो यत्नेन संतोषिताः। मन्त्राराधनतत्परेण मनसा नीताः श्मशाने निशाः प्राप्तः काणवराटकोऽपि न मया तृष्णेऽधुना मुञ्च माम् ॥ ४ ॥

मैंने धनकी आशा से पृथ्वी के तल को खोदा, (रसायन सिद्ध होने की आशा से) पर्वत के धातुओंको फूँका, (धन अथवा दान प्राप्त करने की इच्छा से) समुद्र को पार किया, बड़े प्रयत्न से राजाओं को प्रसन्न किया और मन्त्रों को सिद्ध करने के हेतु मन लगाकर अनेक रात्रियों को श्मशान में व्यतीत किया परन्तु (यह सब करने पर भी) एक कानी कौड़ी भी हाथ न लगी। तो हे तृष्णे! अब तो मेरा पिण्ड छोड़ दे ॥ ४ ॥

भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न किंचित्फलं त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचितं सेवा कृता निष्फला। भुक्तं मानविवर्जितं परगृहे सा शङ्कया काकवत् तृष्णे दुर्मति पापकर्मनिरते नाद्यापि सन्तुष्यसि ॥ ५ ॥

मैंने अनेक दुर्गम देशों में भ्रमण किया परन्तु कुछ भी फल न पाया, (अपने) जाति और कुलके उचित

अभिमान को छोड़कर सेवा की वह भी निष्फल हुई, और अभिमान को छोड़कर कौए की नाई डरते डरते दूसरे के घर भोजन किया; हे तृष्णे ! दुर्मति और पाप कर्म में प्रवृत्त तू अभी तक सन्तुष्ट नहीं हुई ॥ ५ ॥

खलोल्लापाः सोढाः कथमपि तदाराधनपरैर्निगृ
ह्यान्तर्बाष्पं हसितमपि शून्येन मनसा। कृत
श्चित्तस्तम्भः प्रहसितधियामञ्जलिरपि त्वमाशे
मोघाशे किमपरमतो नर्तयसि माम् ॥ ६ ॥

उन (दुष्टों) की आराधना में तत्पर मैंने किसी न किसी प्रकार से उनके कुवाक्यों को सहन किया, नेत्रों के आँसुओं को रोक उनके सामने उदास मनसे हँसा किया और मनको स्थिर करके उनके सामने हाथ भी जोड़ा, व्यर्थ आशा करनेवाली हे तृष्णे ! अब तू मुझे अधिक क्यों नचाती है ॥ ६ ॥

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्म जराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्प
द्यते पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं
जगत् ॥ ७ ॥

दिन दिन सूर्यके उदय और अस्त होने से आयुष्य क्षीण होता जाता है, अनेक बड़े बड़े कार्य व्यापार करने से समय बीतता हुआ नहीं जान पड़ता (इन सबसे यह ज्ञात होता है कि) यह संसार मोहमयी प्रमादरूपी मदिरा पीकर उन्मत्त सा हो रहा है ॥ ७ ॥

दीनादीनमुखैः सदैव शिशुकैराकृष्टजीर्णाम्बरा क्रोशद्भिः क्षुधितैर्नरैर्न विधुरा दृश्येत चेद्गेहिनी। याञ्चाभङ्गभयेन गद्गदलसत्त्रुट्यद्विलीनाक्षरं को देहीति वदेत्स्वदग्धजठरस्यार्थे मनस्वी जनः ॥ ८ ॥

यदि मनुष्य अपनी घरवाली को दुःखित, दीन और सदा भूखे चिल्लाते हुए दीनमुख बच्चों से उनके फटे वस्त्रों को खिंचा जाता न देखे तो कौन मनस्वी पुरुष इस जले पेटके लिये याञ्चा भङ्ग होने के भयसे (कोई 'नहीं' कह देगा इस डर से) गद् गद् कण्ठ से टूटे फूटे अक्षरों में "मुझे दो" इस वाणी को कहेगा (तात्पर्य यह है कि स्त्री ही सब अनर्थों का मूल है) ॥ ८ ॥

निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानो विगलितः समानाः स्वर्याताः सपदि सुहृदो जीवित समाः।

शनैर्यष्ट्योत्थानं घनतिमिररुद्धे च नयने अहो धृष्टः कायस्तदपि मरणापायचकितः ॥ ९ ॥

भोग की इच्छा क्षीण हो गई, पुरुषों में सत्कार नष्ट हुआ, समान वयवाले स्वर्ग को चले गये, अब जो मित्रगण बचे हैं उनका जीवन भी पूर्ण हो रहा है, आप भी लकड़ी टेककर उठने लगे और नेत्र घोर अन्धकार से छा गये ! अरे निर्लज्ज शरीर ! इतना होने पर भी अपना मरण सुन चकित हो जाता है ! ॥ ९ ॥

हिंसाशून्यमयत्नलभ्यमशनं धात्रा मरुत्कल्पितं व्यालानां पशवस्तृणांकुरभुजः स्पृष्टाः स्थली शायिनः । संसारार्णवलङ्घनक्षमधियां वृत्तिः कृता सा नृणां यामन्वेषयतां प्रयान्ति सततं सर्वे समाप्तिं गुणाः ॥ १० ॥

विधाता ने हिंसारहित और विना प्रयत्नके मिलनेवाले वायु सर्पोंका भोजन वनाया है, और पृथ्वीपर सोनेवाले पशुओंका तृणोंका अंकुर भोजन वनाया है और भवसागर पार करने योग्य जो पुरुष हैं उनकी ऐसी वृत्ति वनाई है कि जिसकी खोज में सव गुण समाप्त हो जाते हैं (सारांश यह है कि मनुष्य की वृत्ति वड़ी कठिन है जिसको सव

नहीं जानते, अतः न जानकर वे ऐसा कार्य करते हैं जिससे उनके सब गुणों का लोप हो जाता है ।) ॥ १० ॥

न ध्यातं पदमीश्वरस्य विधिवत् संसारविच्छित्तये स्वर्गद्वारकपाटपाटनपटुर्धर्मोऽपि नोपार्जितः । नारीपीनपयोधरोरुयुगुलं स्वप्नेऽपि नालिङ्गितं मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारा वयम् ॥ ११ ॥

(हमने) संसार के छेदन के लिये (अर्थात् मुक्तिकी इच्छा से)विधिवत् ईश्वर के चरणों का ध्यान नहीं किया, न तो स्वर्गद्वार के किवाड़ खोलने में चतुर धर्मका उपार्जन किया और स्वप्न में भी नारी के दृढ़ स्तनों का और जघनोंका आलिंगन न किया, हम तो केवल माता के यौवन रूपी वनके काटने के लिये कुठार ही उत्पन्न हुए ॥ ११ ॥

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः । कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥ १२ ॥

हमने विषयोंका उपभोग नहीं किया किन्तु विषयोंने ही हमें भोग लिया (हमको असमर्थ कर दिया), हमने तप नहीं किया किन्तु तपने ही हमें तपा दिया, काल

व्यतीत नहीं हुआ किन्तु हम ही व्यतीत हो गये (अर्थात् हमारा मरण आ गया) और तृष्णा जीर्ण न हुई किन्तु हम ही जीर्ण हो गये ॥ १२ ॥

क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तुं न सन्तोषतः सोढो दुःसहशीतवाततपनः क्लेशो न तप्तं तपः ॥ ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमितप्राणैर्न शम्भोः पदं तत्तत्कर्म कृतं यदेव मुनिभिस्तैस्तैः फलैर्वञ्चितम् ॥ १३ ॥

हमने सहन तो किया परन्तु क्षमा से नहीं (अशक्तता से सहन किया) गृहस्थी के सुखको तो त्यागा परन्तु संतोष से नहीं शीत, वात और तपनके दुःसह क्लेशोंका सहन किया परन्तु तप न किया, ध्यान को किया परन्तु धनही का किया और प्राणायाम द्वारा शिवके चरणका नहीं। हमने वे सब कर्म किये जो मुनि लोग करते हैं परन्तु फलके विषय में ठगे गये (तात्पर्य यह है कि जब तक चित्तमेंसे दुष्ट आशा नहीं निकल जाती तब तक मन एकाग्र नहीं होता) ॥ १३ ॥

वलिभिर्मुखमाक्रान्तं पलितैरङ्कितं शिरः । गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते ॥१४॥

मुख झुर्रियों से व्याप्त हो गया, सिरके बाल श्वेत

हो गये और सब इन्द्रियाँ शिथिल हो गईं, केवल एक तृष्णा ही तरुण होती जाती है ॥ १४ ॥

येनैवाम्बरखण्डेन संवीतो निशि चन्द्रमाः।
तेनैव च दिवा भानुरहो दौर्गत्यमेतयोः ॥१५॥

चन्द्रमा जिस आकाशके खण्डसे रात्रि में अपनेको ढकता है उसीसे सूर्यको दिन। अहो इन दोनों की कैसी दुर्गति है (तात्पर्य यह है कि इस संसार में समरथको भी दीनता प्रगट करनी पड़ती है तो फिर मनुष्यों को क्या कहना है) ॥ १५ ॥

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषयान् वियोगे को भेदस्त्यजति न मनो यत्स्वयममून्।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्या दतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्ता ह्यते शमसुखमनन्तं विदधति॥१६॥

चिरकालतक भोग किये विषय अन्तमें अवश्य छोड़ेंगे तो उनके वियोग होने में क्या संशय है, अतएव मनुष्य को चाहिये कि इनको स्वयं ही छोड़ दे क्योंकि जब वे आपसे छोड़ेंगे तो मनुष्य को बड़ा सन्ताप देंगे परन्तु यदि मनुष्य उनको स्वयं त्याग देगा तो अनन्त सुखका भागी होगा ॥ १६ ॥

इति तृष्णादूषणम।

अथ तृष्णाधिकारः ।

विवेकव्याकोशे विदधति शमे शाम्यति तृषा परिष्वङ्गे तुङ्गे प्रसरतितरां सा परिणतिः । जरा जीर्णैश्वर्यग्रसन गहना चेपकृपणस्तृषापात्रं यस्यां भवति मरुतामप्यधिपतिः ॥ १७ ॥

विवेक के प्रकाश से शान्तिका उदय होनेपर तृष्णा भी शान्तिको प्राप्त होती है और जैसे जैसे तृष्णा शरीर में लिपटाई जाती है वैसे वैसे उसका फैलाव बढ़ता जाता है। जरा जीर्ण ऐश्वर्य के ग्रसने के दुःखको निवारण इन्द्र भी नहीं कर सकता और वह भी इसी तृष्णा का कृपापात्र बन जाता है (अर्थात्) तृष्णा बड़ी प्रबल है) १७ ॥

इति तृष्णाधिकारः ।

अथ विषयाधिकारः ।

भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम् । वस्त्रं च जीर्णशतखण्डमयीचकन्था हा हा तथापि विषयान्न परित्यजन्तिः ॥ १८ ॥

हा हा ! तब भी विषयों की वासना नहीं छोड़ती जब हमको एक बार भिक्षा माँग कर निरस (अन्न) भोजन करना पड़ता है, जब पृथ्वी ही हमारी शैय्या है, अपना शरीर ही परिवार है और जब जीर्ण सैकड़ों जगह फटी हुई कथरी (गुदड़ी) हमारा पहिरनेका वस्त्र है ॥१८॥

स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम्।
स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरकरस्पर्धिजघनम् अहो
निन्द्यं रूपं कविजनविशेषगुरु कृतम् ॥१९॥

(स्त्रियों के) स्तन माँसके लोथड़े हैं उनको सुवर्णके कलशकी उपमा दी जाती है, मुख थूक खखार का स्थान है पर उसको चन्द्रके समान कहते हैं और टपकते हुए मूत्र से भींगे जघनको गजेन्द्र के सूंड़की उपमा देते हैं। अहो! इस प्रकार से निन्दित (स्त्री के) रूपको कवियों ने कैसा बढ़ाया है ॥ १९ ॥

इति विषयाधिकार ।



अथ रूप तिरस्कारः ।

अजानन्माहात्म्यं पततु शलभो दीपदहने

स मीनोऽप्यज्ञानाद्बडिशयुतमश्नातु पिशितम् । विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिलान्न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोहमहिमा ॥ २० ॥

पतंग अग्निके माहात्म्य को न जान कर भस्म हो जाय और मछली अनजाने (अर्थात् यह न जान कर कि इस मांसके खाने से उसके कंठ में कांटा लगेगा) मछली वंसी में लगे मांसको खाय परन्तु देखो कि जान बूझकर भी विपत्ति के जाल में फंसे हुए हम कामको नहीं छोड़ते। अहो ! मोहकी महिमा कैसी प्रबल है ॥ २० ॥

फलमलमशनाय स्वादु पानाय तोयं शयनमवनिपृष्ठं वल्कले वाससी च । नव धनमधुपानभ्रान्तसर्वेन्द्रियाणामविनयमनुमन्तुं नोत्सहे दुर्जनानाम् ॥ २१ ॥

भोजनको फल, पीने को स्वादिष्ट पानी, शयन के लिये पृथ्वी और पहिरने को वृक्ष की छाल यथेष्ट हैं तो हम ऐसे दुर्जनों का निरादर क्यों सहें जिनकी इन्द्रियाँ नये उपार्जन किये धनरूपी मदिरा से उन्मत्त हो गई हैं ॥२१॥

विपुलहृदयैर्धन्यैः कैश्चिज्जगज्जनितं पुरा विधृतमपरैर्दत्तं चान्यैर्विजित्य तृणं यथा । इह हि

भुवनान्यन्ये धीराश्चतुर्दश भुञ्जते कतिपयपुर स्वाम्ये पुंसां क एष मदज्वरः ॥२२॥

यह संसार प्राचीन कालमें विपुल हृदयवाले (सर्वज्ञ) महात्माओं से उत्पन्न किया गया और धारण किया गया; बहुतेरों ने इस संसार को जीतकर तृणवत् समझ कर दूसरों को दे दिया और बहुत से धीर (राजा) लोग इन चौदहों भुवनका परिपालन करते हैं (अर्थात् ऐसे बड़े बड़े लोगों को इतनी बड़ी संपत्ति पाकर कुछ भी अभिमान न हुआ परन्तु देखो) थोड़ेसे ग्रामों का प्रभुत्व पाकर मनुष्य कैसा मदोन्मत्त हो जाता है ॥ २२ ॥

इति रूपतिरस्कारः ।



अथ निस्पृहाणामधिकारः ।

त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नताः ख्यातस्त्वं विभवैर्यशांसि कवयो दिक्षु प्रतन्वन्ति नः । इत्थं मानद नातिदूरमुभयोरप्यावयोरन्तरं यद्यस्मासु पराङ्मुखोऽसि वयमप्येकान्ततो निस्पृहाः ॥ २३ ॥

तू राजा है और हम भी गुरुकी सेवा से प्राप्त हुई

प्रज्ञाके अभिमान से उन्नत हैं (अर्थात् हे राजा जैसे तुझे अपने राज्य का अभिमान है वैसे हमें अपने बुद्धिका है) यदि तू अपने धनसे परिख्यात है तो हमारा भी यश कवि लोग सब दिशाओं में फैलाते हैं तो हे मानको खंडन करने वाले राजा ! तुझमें हममें बहुत अन्तर नहीं है इसपर भी यदि तू हमसे मुख फेर लेता है तो हम तुझसे भी अधिक निस्पृह हैं ॥ २३ ॥

अभुक्तायां यस्यां क्षणमपि न यातं नृपशतै
र्भुवस्तस्या लाभे क इव बहुमानः क्षितिभुजाम् ।
तदंशस्याप्यंशे तदवयवलेशेऽपि पतयो विषादे
कर्तव्ये विदधति जडाः प्रत्युत मुदम् ॥ २४ ॥

उस पथ्वीका, जो सैकड़ों राजाओं से एक क्षण भी भोगी न जाकर छोड़ दी गई, प्रभुत्व पाकर राजा लोगों को क्या अधिक मान प्राप्त होता है। परन्तु अब इस (पथ्वी) के अंशके भी अंशको पाकर लोग अपने को भूपति मानते हैं। देखो यह कैसा आश्चर्य है कि मूर्ख लोग शोचनीय वस्तुमें उलटा आनन्द मानते हैं ॥ २४ ॥

मृत्पिण्डो जलरेखया वलयितः सर्वोऽप्ययं
न न्वणुः भोगी कृत्य स एव संयुगशतै राज्ञां ग
णैर्भुज्यते । नो दद्युर्ददतेऽथवा किमपि ते क्षुद्रा

दरिद्र भृशं धिग्धिक्तान्पुरुषान्धमान्धनलवं वाञ्छन्ति तेभ्योऽपि ये ॥ २५ ॥

यह संपूर्ण पृथ्वी मिट्टीका एक छोटा सा पिण्ड है जो जलकी रेखा से घिरा है, अनेक राजा लोग आपस में युद्ध कर इसके छोटे छोटे भागों को अपने स्वाधीन कर इसपर राज्य करते हैं, उन अधम पुरुषों को धिक्कार है जो ऐसे क्षुद्र और दरिद्री राजाओं को दानी कह कर इस बातकी परीक्षा करते हुए कि वे अब भी देते हैं कि नहीं उनसे धनके कणकी आकांक्षा करते हैं ॥ २५ ॥

इति निस्पृहाणामधिकारः।



अथ दुर्भगसेवकस्य वाक्यमाह।

न विटा न नटा न गायका न परद्रोहनिबद्धबुद्धयः। नृप सद्मनि नाम के वयं कुचभारोन्नमिता न योषितः ॥ २६ ॥

हम न नट हैं, न विट (पर स्त्री लंपट) हैं, गवैयें हैं, न दूसरों के द्रोह की बुद्धिवाले हैं और न स्तनोंके भार से झुकी स्त्रियाँ हैं तो राजा की सभा में हमें जाने से क्या प्रयोजन है (सारांश यह है कि उपरोक्त गुणोंही का प्रायः राजसभामें मान होता है) ॥ २६ ॥

पुरा विद्वत्तासीदुपशमवतां क्लेशहतये गता कालेनासौ विषयसुखसिद्ध्यै विषयिणाम् । इदानीं सम्प्रेक्ष्य क्षितितलभुजः शास्त्रविमुखा नहो कष्टं साऽपि प्रतिदिन मधोऽधःप्रविशति २७

विद्या पहिले पंडितोंके चित्त से क्लेश दूर करनेको थी, फिर कुछ काल व्यतीत होने पर कामी पुरुषों के विषय सुखकी सिद्धिके लिये हुई परन्तु अहो ! बड़ा कष्ट है कि वह भी इन समय राजाओं को शास्त्रविमुख देखकर अधोगति को प्राप्त होती जाती है ॥ २७ ॥

इति दुर्भगसेवकस्य वाक्यमाह ।



अथ साहङ्कार पुरुष मुद्दिश्याह ।

स जातः कोऽप्यासीन्मदनरिपुणा मूर्ध्नि धवलं कपालं यस्योच्चैर्विनिहितमलंकारविधये । नभिः प्राणत्राणप्रवणमतिभिः कैश्चिदधुना नमद्भिः कः पुंसामयमतुलदर्पज्वरभरः ॥२८॥

एक तो ऐसा उत्पन्न हुआ कि जिसके उज्ज्वल कपोल को कामदेव के शत्रु (महादेवजी) शोभा के लिये अपने मस्तक पर धारण किया, परन्तु अब प्राणपोषण करनेवाले

लोगों से प्रतिष्ठा पाकर मनुष्य अभिमान के ज्वर से कैसे व्याप्त हो गये हैं ॥ २८ ॥

अर्थानामीशिषे त्वं वयमपि च गिरामीश्महे यावदर्थं शूरस्त्वं वादिदर्पज्वरशमनविधावक्षयं पाटवं नः । सेवन्ते त्वां धनाढ्या मतिमलहतये मामपि श्रोतुकामा मय्यप्यास्था न चेत् त्त्वयि मम सुतरामेष राजन्गतोऽस्मि ॥ २९ ॥

हे राजन् । तुम धन के स्वामि हो तो हम भी जब तक शब्दों में अर्थ है तबतक वाणी के ईश्वर (वाक्पति हैं,) तुम शूर हो और हम भी वादियों के अहङ्काररूपी ज्वरके नाशमें प्रवीण हैं, तुम्हारे धनाढ्य लोग सेवक हैं और हमको भी बुद्धिकी मलीनता दूर करने के लिये शास्त्र श्रवण की इच्छावाले सेवन करते हैं (इस प्रकार हम तुम समान हैं) तो यदि हमपर तुम्हारी श्रद्धा नहीं है तो हमारी भी आस्था तुममें नहीं है । लो हम जाते हैं ॥ २९ ॥

इति साहङ्कारपुरुषमुद्दिश्याह ।



अथ निर्ममतास्वरूपमाह ।

अतिक्रान्तः कालो लटभललनाभोगसुभगो

भ्रमन्तः श्रान्ताः स्मः सुचिरमिह संसारसरणौ। इदानीं स्वः सिन्धोस्तटभुवि समाक्रन्दनगिरः सुतारैः फूत्कारैः शिव शिव शिवेति प्रतनुमः ॥३०॥

सुन्दर स्त्रियों के उपभोग के आनन्द का समय (अर्थात् यौवन) बीत गया और हम बहुत काल पर्यन्त इस संसार मार्ग से घूमते २ थक गये। अब तो हम श्री गङ्गाजी की तटसम्बन्धी भूमिपर ऊँची श्वाससे संसार की निन्दा करते हुए शिव २ जपेंगे। ३० ॥

माने म्लायिनि खण्डिते च वसुनि व्यर्थं प्रयातेऽर्थिनि क्षीणे बन्धुजने गते परिजने नष्टे शनैर्यौवने। युक्तं केवलमेतदेव सुधियां यज्जह्नुकन्यापयः पूतग्रावगिरीन्द्र कन्दरदरीकुञ्जे निवासः क्वचित् ॥३१॥

जब प्रतिष्ठा भङ्ग हुई, धनका नाश हो गया, याचकगण विमुख जाने लगे, बन्धुवर्ग क्षयको प्राप्त हुए, परिजन चले गये और धीरे धीरे युवावस्था भी नाश को प्राप्त हुई तो बुद्धिमान् को यही उचित है कि गंगाजी के जलसे पवित्र की हुई हिमालय पर्वतकी किसी गुफा में निवास करे ॥ ३१ ॥

परेषां चेतांसि प्रतिदिवसमाराध्य बहुधा प्रसादं किं नेतुं विशसि हृदयं क्लेशकलिलम्। प्रसन्ने त्वय्यन्तः स्वयमुदितचिन्तमणिगुणे विमुक्तः संकल्पः किमभिलषितं पुष्यति न ते ३२।

हे हृदय! क्या तू प्रसाद लेने के लिये प्रति दिन नाना प्रकार से दूसरों के मनकी आराधना करके क्लेश के कीचड़ में फँसता है? अन्तः करणमें प्रसन्न होकर जब तू स्वयं ही चिन्तामणि के गुण प्रकट करेगा। (अर्थात् शान्ति, सन्तोष आदि को ग्रहण करेगा) तब क्या तेरी अभिलाषा पूर्ण न होगी? ॥ ३२ ॥

इति निर्ममतास्वरूपमाह।



अथ भोगपद्धतिः।

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं मौने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जरायाः भयम्। शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां शम्भोः पदं निर्भयम् ॥ ३३ ॥

भोगमें रोगका भय है, कुलमें च्युतिका, धनमें राजका, मौनमें दीनताका, बलमें शत्रुताका, रूपमें जरा (बुढ़ापे) का, शास्त्रमें वादविवादका, गुणमें दुष्टका, और शरीरमें मृत्युका भय है। इस संसारमें सबही वस्तु भयसे आच्छादित है, केवल शिवजीका चरणही पुरुषोंको निर्भय (स्थान) है॥ ३३॥

अमीषां प्राणानां तुलितबिसिनीपत्रपयसां
कृते किन्नास्माभिर्विगलितविवेकैर्व्यवसितम्।
यदाढ्यानामग्रे द्रविणमदनिःशङ्कमनसां कृतं वी
तव्रीडैर्निजगुणकथापातकमपि॥ ३४॥

कमल पत्र पर जलकी नाई चञ्चल इन प्राणोंके लिये विवेकका त्याग कर हमने कौन कौन कर्म नहीं किये? (अर्थात् सब ही अनुचित कर्म किये) क्योंकि जब निर्लज्ज होकर द्रव्यके मदसे उन्मत्त धनाढ्योंके आगे अपने गुणकथन का पातक किया (तो इससे बढ़कर और क्या होसकता है)॥ ३४॥

सा रम्या नगरी महान्सनृपतिः सामन्तचक्रं
च तत्पार्श्वे तस्य च साविदग्धपरिषत्ताश्चन्द्रबिम्बा
ननाः। उद्रिक्तः स च राजपुत्रनिवहस्तेवन्दि

नस्ताः कथाः सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपदं कालाय तस्मै नमः ॥ ३५ ॥

पहिले यह कैसी सुन्दर नगरी थी, कैसा उत्तम राजा था, उसका राज्य कैसा विस्तृत था, सभामें उसके चारों ओर कैसे कैसे पण्डित और कैसी कैसी चन्द्रमुखी स्त्रियाँ थीं, राजपुत्रों का समूह कैसा प्रबल था, कैसे बन्दी थे और उनकी कैसी उत्तम कथा थी—हम उस कालको नमस्कार करते हैं जिसके वशमें होकर ये सब पदार्थ नष्ट होकर स्मृतिपथ (यादगार) में ही रह गये हैं ॥ ३५ ॥

वयं येभ्यो जाताश्चिरपरिगता एव खलु ते
समं यैः संवृद्धाः स्मृतिविषयतां तेऽपि गमिताः ।
इदानीमेते स्मः प्रतिदिवसमासन्नपतनाद्गतास्तु
ल्यावस्थां सिकतिलनदीतीरतरुभिः ॥ ३६ ॥

जिन (माता पिता) से हम उत्पन्न हुए उनको गये (मरे) बहुत दिन हो गये, जिनके साथ हम वृद्ध थे वे भी स्मृतिपदको गये, अब हम नदी के किनारे बालूमें उगे वृक्षकी नाईं गिरते ही देख पड़ते हैं (अर्थात् मृत्युके निकट पहुचते जान पड़ते हैं ॥ ३६ ॥

तत्रानेके क्वचिदपि गृहे तत्र तिष्ठत्यथैको

यात्राप्येकस्तदनु बहवस्तत्र नैकोऽपि चान्ते।इत्थं
चेमौ रजनिदिवसौ दोलयन्द्वाविवाक्षौ कालः
काल्या भुवन फलके क्रीडति प्राणिसारैः ॥३७॥

जिस किसी घरमें अनेक थे वहाँ एक ही देख पड़ता है, जहाँ एक था वहां अनेक दिखाई देते हैं और अन्तमें एक भी नहीं रहता। देखो प्राणियोंकी गोटियाँ बनाकर डोलते हुए दिन रातके पासे फेंकता हुआ कालपुरुष अपनी स्त्री काली के साथ कैसा संसाररूपी चौपड़ खेलता है ॥ ३७ ॥

तपस्यन्तः सन्तः किमधिनिवसामः सुरनदीं
गुणोदारान्दारानुत परिचरामःसविनयम्।पिवामः
शास्त्रौघानुत विविधकाव्यामृतरसान्न विद्मः किं
कुर्मःकतिपय निमेषायुषि जने ॥ ३८ ॥

हम नहीं जानते कि इस निमेष मात्र स्थिर रहनेवाली (अर्थात् वहुत थोड़े दिनों तक रहनेवाली) शरीरसे हम क्या करें, क्या तप करते हुए गङ्गाजीके तटपर वास करें ? अथवा गुणवती स्त्रीके विनयपूर्वक गृहस्थीका सेवन कर ? अथवा क्या हम. वेदान्त शास्त्र समूह और अनेक काव्य रूपी अमृतका पान करें ? ॥ ३८ ॥

गंगातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य ब्रह्म ध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य। किं तै र्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशङ्काः कण्डूयन्ते जरठहरिणाः स्वाङ्गमङ्गे मदीये ॥ ३९ ॥

क्या मेरे ऐसे दिन आवेंगे जब मैं गङ्गाजीके किनारे हिमालयके चट्टान पर पद्मासन लगाकर बैठूँगा और ब्रम्ह ध्यानमें लीन होकर विधिपूर्वक नेत्र मूँद योगनिद्राको प्राप्त करूंगा जब भयको छोड़ बूढ़े हरिण अपने शरीरको मेरे शरीरसे रगड़ेंगे ॥ ३९ ॥

स्फुरत्स्फारज्योत्स्नाधवलिततले क्वापि पुलिने सुखासीनाः शान्तध्वनिषु रजनीषु द्युसरितः। भवा भोगोद्विग्नाः शिव शिव शिवेत्यार्तवचसा कदा स्यामानन्दोद्गतबहुलबाष्पाप्लुतदृशः ॥ ४० ॥

रात्रियोंमें जब सम्पूर्ण ध्वनि शान्त हो गई है, गंगा जीके वालुकामय तटपर जो देदीप्यमान चाँदनीसे शुभ्र हो रहे हैं, हम कब सुखसे बैठकर संसारके दुःखसे आतुर हो आर्त स्वरसे शिव शिव कहेंगे और नेत्रोंको आनन्दके आँसुओंसे परिपूर्ण करेंगे ॥ ४० ॥

महादेवो देवः सरिदपि च सैषा सुरसरिद्गुहा

एवागारं वसनमपि ता एव हरितः। सुहृद्वा कालोऽयं व्रतमिदमदैन्यव्रतमिदं कियद्वा वक्ष्यामो वटविटप एवास्तु दयिता ॥ ४१

महादेव ही हमारे (एक पूज्य देव हैं) गंगा ही एक नदी, गुहा ही घर, काल ही मित्र, किसीके सम्मुख दीन न होना यही एक व्रत और वटका वृक्ष ही हमारी दयिता है (सारांश यह है कि विरक्त पुरुषको ये ही पदार्थ प्रिय होते हैं) ॥ ४१ ॥

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुला रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी। मोहावर्त्त सुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः ॥ ४२ ॥

आशा एक नदी है (कवियोंने आशाको नदी माना है) जिसमें मनोरथरूपी जल भरा है, तृष्णारूपी लहरें उठती हैं, जिसमें विषयरूपी ग्राह (मगर) रहते हैं, वितर्करूपी पक्षी जिसपर विचरते हैं, जो धैर्यरूपी वृक्षको ढाहती है, जिसमें मोहरूपी भँवर पड़ते हैं और जो इनसे अत्यन्त दुस्तर और कठिन हो रही है और बड़ी चिन्ता इस नदीके

तट हैं। बड़े बड़े योगी लोग जिनका अन्तःकरण शुद्ध हैं इस नदीके पार जाकर आनन्दको प्राप्त करते हैं॥४२॥

आसंसारं त्रिभुवनमिदं चिन्वतांतात ताहङ्नै वास्माकं नयनपदवीं श्रोत्रवर्त्मागतो वा। योऽयं धत्ते विषय करिणीगाढगूढाभि मानक्षीबस्यान्तः करण करिणः संयमालानलीलाम् ॥ ४३ ॥

हे तात, जबसे संसार उत्पन्न हुआ है तबसे अब तक हम सारा त्रिभुवन खोजते फिरे परन्तु ऐसा मनुष्य देखने और सुनने में न आया जो (इतना प्रबल हो कि) विषय रूपी हथिनीमें उत्पन्न गूढ़ अभिमानसे, उन्मत्त अन्तःकरण रूपी हाथीको संयम रूपी बन्धनमें बाँधकर रोक ले (तात्पर्य यह है कि विषयोंमें फँसे चञ्चल चित्तको वशमें करना अत्यन्त ही कठिन है) ॥ ४४ ॥

इति भोगपद्धतिः।



अथ निर्वेदयता स्वरूपमाह।

ये वर्धन्ते धनपतिपुरः प्रार्थनादुःखभाजो ये चाल्पत्वं दधति विषयाक्षेपपर्यस्तबुद्धेः। तेषामन्तः

स्फुरितहसितं वासराणां स्मरेयं ध्यानच्छेदे शिख
रिकुहरग्रावशय्या निषण्णः ॥ ४४ ॥

पर्वतकी गुफामें चट्टानकी शय्यापर बैठे हुये हम ध्यानके अन्तरोंमें मनमें हँसते हुए उन दिनोंका स्मरण कब करेंगे जो दिन धनवानोंके सम्मुख प्रार्थनारूपी दुःखके भागी होनेके कारण बढ़ते जान पड़ते हैं (अर्थात् धनाढ्यों की निरन्तर स्तुतिमें वे दिन बीतते नहीं देख पड़ते) और जो विषयासक्त बुद्धिवाले पुरुषोंको छोटे होते हैं (अर्थात् कितनी शीघ्रतासे बीत गये सो जान नहीं पड़ता) ॥४४॥

विद्या नाधिगता कलङ्करहिता वित्तं च नोपा
र्जितं शुश्रूषापि समाहितेन मनसा पित्रोर्न सम्पा
दिता । आलोलायतलोचना युवतयः स्वप्नेऽपि
नालिङ्गिताः कालोऽयं परपिण्डलोलुपतया काकै
रिव प्रेरितः ॥ ४५ ॥

हमने न तो निष्कलंकित विद्या पढ़ी, न धन कमाया, एकाग्र मनसे माता पिताकी शुश्रूषा न किया और न स्वप्नमें भी चंचल और विस्तीर्ण नेत्रवाली युवतीका आलिङ्गन किया । हमने तो केवल पराये अन्नका लोभ करते करते काककी नाईं समय यों ही व्यतीत किया ॥ ४५ ॥

विंतीर्णे सर्वस्वे तरुणकरुणापूर्णहृदयाः स्मर न्तः संसारे विगुणपरिणामावधिगतीः। वयं पुण्या रण्ये परिणतशरच्चन्द्रकिरणां त्रियामां नेष्यामो हरचरणचित्तैकशरणाः ॥ ४६ ॥

सर्वस्व नाश हो जानेपर, मनमें शिवके चरणोंको अपना रक्षक जान, सुकुमार करुणापूर्ण हृदय होकर, संसार को सब गुणोंसे शून्य जानकर शरद ऋतुकी चाँदनीमें किसी पवित्र वनमें बैठकर हम अपनी रात्रि व्यतीत करेंगे ॥ ४६ ॥

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं दुकूलैः सम इह परितोषो निर्विशेषोविशेषः। स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान्कोदरिद्रः ॥ ४७

यहाँ हम वल्कलों (छालके वस्त्रों) से सन्तुष्ट हैं और तू रेशमी वस्त्रोंसे परितुष्ट हो, अब जो हमारी तुम्हारी तुष्टि समान हुई तो सन्तोष निर्विशेष हुआ (अर्थात् भेद रहित हुआ) तो जिसको तृष्णा अधिक है वही दरिद्र है परन्तु मनके सन्तुष्ट होने पर न कोई दरिद्र है और न कोई धनी ॥ ४७ ॥

यदेतत्स्वच्छन्दं विहरणमकार्पण्यमशनं सहार्यैः संवासः श्रुतमुपशमैकव्रतफलम् । मनो मन्दस्पन्दं बहिरपि चिरस्यापि विमृशन् न जाने कस्यैषा परिणतिरुदारस्य तपसः ॥ ४८ ॥

हम नहीं जानते कि स्वच्छन्द विहार करना, बिना माँगे भोजन करना, उत्तम पुरुषोंकी सङ्गति करना, ऐसे शास्त्रोंका श्रवण करना जिसका फल उपशमरूपी व्रत ही है, हम नहीं जानते कि ये सब फल किस बड़े प्राचीन तपसे प्राप्त होते हैं ॥ ४८ ॥

पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं विस्तीर्णं वस्त्रमाशा दशकममलं तल्पमस्वल्पमुर्वी । येषांनिःसङ्गताङ्गीकरणपरिणतिः स्वात्मसन्तोषिणस्ते धन्याःसंन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः कर्म निर्मूलयन्ति ॥ ४९ ॥

धन्य हैं वे पुरुष जिनका हाथ ही (उनके लिये) पवित्र बरतन है, भ्रमण करके लाई हुई भिक्षा ही जिनका भोजन है, अक्षय्य (क्षय रहित) विस्तृत दश दिशायें जिनका निर्मल वस्त्र हैं, बहु विस्तार युक्त पृथ्वी जिनकी शय्या है, जिनके अन्तःकरणकी प्रवृत्ति सब संसर्गोंसे रहित

है, जो (विषय-भोग तृष्णाको, छोड़) अपने हीमें सन्तुष्ट रहते हैं, जिन्होंने दीनताके समूहको भलीभाँति छोड़ दिया है और जो कर्मको निर्मूल करते हैं (अर्थात् तत्वज्ञानको हटाते हैं और त्रिविध कर्मका नाश करते हैं) ॥ ४६ ॥

दुराराध्यः स्वामी तुरगचलचित्ताः क्षिति भुजो वयं तु स्थूलेच्छा महति च पदे बद्धमनसः । जरा देहं मृत्यु र्हरति सकलं जीवितमिदं सखे नान्यच्छ्रेयो जगति विदुषोन्यत्र तपसः ॥५०॥

इन राजाओंकी, जिनका मन अश्वके समान चंचल है, आराधना करना बड़ा कठिन है; परन्तु हमारी इच्छा बड़ी है और बड़े पदमें हमारा चित्त बँधा (लगा) है। वृद्धावस्था शरीरको नष्ट करती है और मृत्यु इसका हरण करती है अतएव हे मित्र ! ज्ञानीके लिये इस ससारमें तप से बढ़कर कुछ कल्याणकारक नहीं है ॥ ५० ॥

भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चला आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलीनाम्बुवद्भङ्गुरम्। लोला यौवनलालना तनुभृतामित्या कलय्य द्रुतं योगे धैर्य समाधिसिद्धिसुलभे बुद्धिं विदध्वं बुधाः ॥ ५१ ॥

(देहधारियोंको) भोग, मेघ समुदायमें चमकती बिजलीके समान हैं, आयुष्य, वायुसे छिन्न भिन्न मेघस्थित जलकी नाईं क्षणभंगुर है और यौवनका उमंग भी स्थिर नहीं है. इनका विचार करके हे पण्डित लोग ! योग में (अपनी) बुद्धि लगाओ जो धैर्यकी समाधिसे सुलभ है ॥ ५१ ॥

पुण्ये ग्रामे वने वा महति सितपटच्छन्नपालीं कपाली मादाय न्यायागर्भद्विजमुखहुतभुग्धूमधूम्रोपकण्ठम् । द्वारं द्वारं प्रवृत्तो वरमुदरदरीपूरणाय क्षुधार्तो मानी प्राणी सधन्यो न पुनरनुदिनं तुल्यकुल्येषु दीनः ॥ ५२ ॥

वह मानी पुरुष धन्य है जो क्षुधासे व्याकुल होकर उदररूपी कन्दराको भरनेके निमित्त श्वेत वस्त्रसे ढपा ठीकरा लेकर पुण्य ग्राम अथवा बड़े वनमें उन मनुष्योंके द्वारपर भीख माँगता है जिनके चौखट न्याययुक्त (नितिज्ञ) ब्राह्मणोंकी होम की हुई अग्निसे काले हो गये हैं । परन्तु समान कुलवालोंके समीप प्रति दिन दीन होना अच्छा नहीं ॥ ५२ ॥

चाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथ किं तापसः किंवा तत्वविवेकपेशलमतिर्योगीश्वरः

कोऽपि किम् इत्युत्पन्नविकल्पजल्पमुखरैः सम्भाष्यमाणाजनैर्नक्रुद्धाःपथि नैव तुष्टमनसो यान्ति स्वयं योगिनः ॥ ५३ ॥

क्या यह चाण्डाल है ? अथवा द्विजाति है ? शूद्र है या तपस्वी है ? अथवा क्या यह तत्वज्ञानमें चतुर कोई योगीश्वर है ? योगी लोग पुरुषोंसे (उसके विषयमें) ऐसे नाना प्रकारके संशयों पर तर्क वितर्क करते हुए संभाषण करने पर भी क्रुद्ध नहीं होते और सन्तुष्ट मनसे अपने मार्ग में चले जाते हैं ॥ ५३ ॥

सखे धन्याः केचित्त्रुटितभवबन्धव्यतिकरा वनान्ते चित्तान्तेऽचिन्वन्तोविषयाशीविषगतिम्। शरच्चन्द्रज्योत्स्नाधवलगगनाभोगसुभगां नयन्ते ये रात्रिं सुकृतचय चित्तैकशरणाः ॥ ५४ ॥

हे मित्र ! धन्य हैं वे पुरुष जिन्होंने संसारके बंधन का सम्बन्ध तोड़ दिया है, जो मनमें विषयरूपी सर्पकी गतिको नहीं खोजते, जिनके मनमें पुण्यका समुदाय ही शरण है और जो वनमें बैठे शरद ऋतुकी चांदनीसे शुभ्र गगन मंडलसे अति शोभित राति को व्यतीत करते हैं ॥ ५४ ॥

एतस्माद्विरमेन्द्रियार्थगहनादायासकादाश्रय
श्रेयोमार्गमशेषदुःखशमनव्यापारदक्षं क्षणात् ।
शान्तंभावमुपैहि संत्यज निजां कल्लोललोलां
गतिं मा भूयो भज भङ्गुरा भवरतिं चेतः प्रसीदाधुना ॥ ५५ ॥

हे चित्त ! अब तू प्रसन्न हो, बड़े कष्टसे प्राप्त की हुई इन्द्रियोंके विषयरूपी वनसे विश्राम ले, कल्याण मार्गका आश्रय कर जो संपूर्ण दुःखोंके विध्वंस करनेमें समर्थ है, शान्त भावको अंगीकार कर, तरंगके समान अपनी चंचल गतिको त्याग दे और अब कभी क्षणभंगुर सांसारिक सुख की इच्छा मत कर ॥ ५५ ॥

पुण्यैर्मूलफलैः प्रिये प्रणयिनी वृत्तिं कुरुष्वाधुना भूशय्या नववल्कलैरकरणैरुत्तिष्ठ यामो वनम्
क्षुद्राणामविवेकमूढमनसां यत्रेश्वराणांसदा चित्त
व्याधिविवेकविह्वलगिरांनामापिनश्रूयते ॥५६॥

हे प्रिये चित्तवृत्त ! तू अब उठ और पवित्र मूल और फलोंसे अब अपनी वृत्तिको कर, तथा पृथ्वीकी शय्या और नवीन वल्कलोंको अपना वस्त्र बना; हम अब वनको जाते हैं, जहाँ उन नीच धनियों का नाम भी न सुन पड़ेगा जो

अविवेकके कारण मूढमति हैं और जिनकी बुद्धि व्याधिके विकारसे विह्वल है ॥ ५६ ॥

मोहं मार्जय तामुपार्जय रतिं चन्द्रार्धचूडामणौ चेतः स्वर्गतरङ्गिणीतटभुवामासङ्गमङ्गीकुरु। को वा वीचिषु बुद्बुदेषु च तडिल्लेखासु च स्त्रीषु च ज्वालाग्रेषु च पन्नगेषु शरिद्वेगेषु च प्रत्ययः

हे चित्त ! मोहको दूर कर, चन्द्रार्धचूडामणि (शिवजी, जिनकी जटामें अर्धचन्द्र शोभायमान है) से प्रीति कर और स्वर्गतरङ्गिणी (गंगाजी)के तटों का संग अंगीकार कर, क्योंकि लहरोंमें, बुलबुलोंमें, बिजलीकी चमकमें, स्त्रियोंमें, सर्पमें, ज्वाला में और नदीके प्रवाहमें, क्या विश्वास है [अर्थात् ये सब स्थिर नहीं हैं अतएव इनमें विश्वास करना भूल है) ॥ ५७ ॥

अग्रे गीतं सरसकवयः पार्श्वतो दाक्षिणात्याः पृष्ठे लीलावलयरणितं चामरग्राहिणीनाम्‌ यद्यस्त्येवं कुरु भवरसास्वादने लम्पटत्वं नोचेच्चेतः प्रविश सहसा निर्विकल्पे समाधौ ॥ ५८ ॥

यदि तेरे सन्मुख गान होता हो, पार्श्व (बगल) में दक्षिणात्य रसीले कवि हों और पीछे चमर डोलानेवाली

मुन्दर स्त्रियोंके कंकणोंकी झनकार सुनाई देती तो तू संसार के स्वाद लेनेमें लम्पट हो, नहीं तो हे चित्त ! स्थिर समाधमें प्रवेश कर ॥ ५८ ॥

विरमत बुधा योषित्सङ्गात्सुखात्क्षणभंगुरा त्कुरुत करुणामैत्रीप्रज्ञावधूजनसंगमम् । न खलु नरके हाराक्रान्तं घनस्तनमण्डलं शरणमथवा श्रोणीबिम्बं रणन्मणिमेखलम् ॥५९॥

हे पंडितो ! स्त्रियोंके संगके (से उत्पन्न) क्षणभंगुर सुखसे विश्राम लो और मैत्री, करुणा और प्रज्ञा रूपी स्त्री से संगम करो क्योंकि नरक (में पड़ने पर) में हारोंसे शोभायमान स्त्रियोंके पुष्ट स्तनमंडल और शब्दायमानमेखलासे युक्त कटिबिम्ब भी सहायता न देंगे ॥ ५९ ॥

मातर्लक्ष्मि भजस्व कंचिदपरं मत्कांक्षिणी मा स्मभूर्भोगेभ्यः स्पृहयालवो नहि वयं का निःस्पृहाणामसि । सद्यः स्यूतपलाशपत्रपुटिकापात्रे पवित्रीकृते भिक्षासक्तुभिरेव सम्प्रति वयं वृत्तिं समीहामहे ॥ ६० ॥

हे लक्ष्मी माता ! अब तू किसी अन्य (पुरुष) को भज और मेरी आशाको छोड़ दे क्योंकि अब हमको

विषयोंमें अभिलाषा नहीं है और निस्पृही पुरुषको तू क्या है (अर्थात् तुच्छसी है) क्योंकि अब तो हम पलाशके हरे पत्तोंके पवित्र दोनोंमें भिक्षाकी सत्तसे अपनेजीवननिर्वाहकी इच्छा रखते हैं ॥ ६० ॥

यूयं वय वयं यूयमित्यासीन्मतिरावयोः । किंजात मधुना मित्र यूयं यूयं वयं वयम् ॥ ६१ ॥

हे मित्र ! जो तुम हो सो हम हैं और जो हम हैं सो तुम हो (अर्थात् हम दोनों परस्पर एक ही हैं) यह हम लोगोंकी पहिले मति थी परन्तु अब न जाने क्या हो गया कि अब तुम तुम ही हो और हम हम ही हैं (अर्थात् तुम विषयाभिलाषी हो और हम विरक्त हैं अतएव दोनों हम तुम अब समान नहीं हैं ॥ ६१ ॥

बाले लीलामुकुलितममीमन्थरा दृष्टिपाताः किं क्षिप्यन्ते विरम विरम व्यर्थ एष श्रमस्ते ॥ संप्र त्यन्येवयमुपरतं बाल्यमास्था वनान्ते क्षीणो मोह स्तृणमिव जगज्जालमालोकयामः ॥ ६२ ॥

हे बाला स्त्री ! लीलासे मुकुलित इन मन्द कटाक्षोंको हम पर क्यों फेंकती है, विरम विरम (हट जा, हट जा) तेरा यह श्रम व्यर्थ है क्योंकि अब हम दूसरे ही हो गये, हमारी बाल्यावस्था वनान्त में ही बीती, हमारा देह क्षीण

हो गया और हम संसार के जालको तृण के समान देखते हैं ॥ ६२ ॥

इयं वाला मां प्रत्यनवरतमिन्दीवरदल प्रभा चोरं चक्षुः क्षिपति किमभिप्रेतमनया। गतो मोहोऽस्माकं स्मरकुसुमवाणव्यतिकरज्वरज्वाला शान्ता तदपि न वराकी विरमति ॥ ६३ ॥

इसका क्या प्रयोजन है कि जो वाला मुझ पर कमल की शोभा को चुराने वाले नेत्रोंको फेंकती है, हमारा मोह तो गया और कामदेवके पुष्पवाण से उत्पन्न हुई ज्वरकी ज्वाला भी शान्त हो गई तो भी यह विचारी शान्त नहीं होती ॥ ६३ ॥

रम्यं हर्म्यतलं न किं वसतये श्राव्यं न गेयादिकं किं वा प्राणसमासमागमसुखं नैवाधिकं प्रीतये। किंतद्भ्रान्तपतत्पतङ्गपवनव्यालोलदीपांकुरच्छायाचञ्चलमाकलय्य सकलं संतो वनांतं गतः ॥ ६४ ॥

क्या सन्तोंके निवासके लिये हर्म्य (महल) न थे ? क्या उनके सुनने के लिये गीत इत्यादि न थे ? क्या अधिक प्रीति (उत्पन्न कराने) के लिये स्त्रीका समागम सुख न

था ? (अर्थात् यह सब कुछ था) परन्तु उन्होंने इस संसार को गिराते हुए पतंग से हिलाई हुई दीपककी छायाके समान चंचल जाना और वनको चले गये ॥ ६४ ॥

किं कन्दाः कन्दरेभ्यः प्रलयमुपगता निर्झरा वा गिरिभ्यः प्रध्वस्ता वा तरुभ्यः सरसफलभृतो वल्कलिन्यश्च शाखाः । वीक्ष्यन्ते यन्मुखानि प्रसभमुपगतप्रश्रयाणां खलानां दुःखोपात्ताल्पवित्तस्मय पवनवशान्नर्तित भ्रूलतानि ॥ ६५ ॥

क्या कन्दराओंमें से कन्द और पहाड़ियोंमें से झरने प्रलयको प्राप्त हुए (नष्ट हो गये) ? अथवा क्या रस, फल और वल्कलको धारण करनेवाली वृक्षकी शाखा टूट गई कि उन अवनीत दुष्टोंकी ओर देखा जाता है (उनके आश्रयसे रहना पड़ता है) जिनकी भौंहें रूपी लता बड़े कष्टसे उत्पन्न किये हुए अल्प धनके गर्वरूपी पवनसे चञ्चल हैं (सारांश यह है कि दुष्टोंका आश्रय छोड़कर सज्जनों को वनके फल मूल खाकर निर्वाह करना चाहिये ॥ ६५ ॥

गङ्गातरंगहिमशीकरशीतलानि विद्याधराध्युषितचारुशिलातलानि । स्थानानि किं हिमवतः

प्रलयं गतानि यत्सावमानपरपिण्डरता मनुष्याः ॥ ६६ ॥

क्या हिमालयके वे स्थान जो गङ्गाजीकी लहरोंके ठण्ढ अनुकरणों से शीतल थे और जिनकी शिलातल पर विद्याधर यहाँ वहाँ बैठते थे नष्ट हो गये कि जो अपमान सहन करने पर भी मनुष्य पराये के दिये ग्रास (अन्न) में रत होते हैं ॥ ६६ ॥

यदा मेरु श्रीमान्निपतति युगान्ताग्ननिहितः समुद्रा शुष्यन्ति प्रचुरनिकरग्राहनिलयाः । धरा गच्छत्यन्तं धरणिधरपादैरपि धता शरीरे का वार्ता करिकलभकर्णाग्रचपले ॥ ६७ ॥

जब श्रीमान् सुमेरु पर्वत भी प्रलय की अग्निसे निहत होकर गिर पड़ता है, जब समुद्र भी जो बड़े बड़े ग्राह और मकरों का स्थान है, सूख जाता है और जब पर्वतोंके पगों को धारित पृथ्वी भी अन्तको जाती हैं (अर्थात् नष्ट होती है) तो हाथीके बच्चेके कानके अग्रके सम न चंचल इस शरीरकी क्या बात है (इस शरीर का क्या भरोसा है ॥ ६७ ॥

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिग

म्बरः। कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलन क्षमः ॥ ६८ ॥

हे शम्भु! कब मैं अकेला, इच्छा रहित, शान्त, पाणिपात्र (हाथोंका पात्र बनाने वाला) दिगम्बर (नङ्गा) और कर्मोंकी जड़ उखाड़नेवाला हूंगा ॥ ६८ ॥

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम्। सम्मानिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥ ६९ ॥

यदि सब कामना देनेवाली लक्ष्मी भी पाई तो क्या? यदि शत्रुओंके शिर पर पग भी रक्खे (अर्थात् शत्रुओंको जीता) तो भी क्या? प्रणयी जनोंका धनसे सम्मान किया तो क्या? फिर इस देहसे कल्पपर्यन्त जिये तो भी क्या हुआ? (सारांश यह है यदि संसारके निवृत्तिके लिये वैराग्य धारण न किया तो यह सब व्यर्थ है) ॥६९॥

जीर्णा कन्था ततः किं सितममलपटं पट्टसूत्रं ततः किं मेका भार्या ततः किं हयकरिसुगणै रावृतो वा ततः किम्॥भक्तं भुक्तं ततःकिं कदशनमथवा वासरांते ततः किं व्यक्तं ज्योति

नवान्तर्मथितभवभयं वैभवं वा ततः किम्॥७०॥

यदि जीर्ण गुदड़ी धारण किया तो क्या ? उज्ज्वल निर्मल वस्त्र अथवा पीताम्बर धारण किया तो भी क्या ? एक ही पत्नी हो तो क्या ? और घोड़े हाथी सहित करोड़ों स्त्रियाँ रहें तो भी क्या ? भात खाया तो क्या ? अथवा सन्ध्या समय कुत्सित अन्न खाये तो भी क्या ? यदि संसार के भयको नष्ट करने वाली ब्रह्मकी ज्योतिको हृदयमें धारण न किया तो बड़ा वैभव पाकर भी क्या प्रयोजन है (अर्थात् यह सब व्यर्थ ही है ॥ ७० ॥

भक्तिर्भवे मरणजन्मभयं हृदिस्थं स्नेहो न बन्धुषु न मन्मथजा विकाराः। संसर्गदोषरहिता विजना वनान्ता वैराग्यमस्ति किमतः परमर्थनीयम् ॥ ७१ ॥

(यदि) शिवमें भक्ति हो, हृदयमें जन्म मरण (वार वार इस संसारमें जन्म लेने और मरने) का भय हो, बन्धुजनसे स्नेह न हो, कामजनित विकार मनमें न हों, और संसर्ग दोषसे रहित होकर निर्जन वनमें निवास हो, तो इससे बढ़कर अर्थनीय (ईश्वरसे माँगने योग्य) कौन सा वैराग्य है ॥ ७१ ॥

तस्मादनन्तमजरं परमं विकासि तद्ब्रह्म चिन्तय किमेभिरसद्विकल्पैः। यस्यानुषङ्गिण इमे भुवनाधिपत्यं भोगादयः कृपणलोकमता भवन्ति

अतएव, अनन्त, अजर (जरा इत्यादिसे रहित), सर्वोत्तम शोक रहित ब्रह्मका चिन्तन करो—इन असत् विकल्पोंसे क्या प्रयोजन हैं। अर्थात् देहादि अहंकारको त्याग सच्चिदानन्द ब्रह्मकी चिन्ता करो। मूर्ख जनोंको भ्रममें डालनेवाले ये भुवनाधिपत्य भोगविलास उसी ब्रह्मके आश्रित हैं (अर्थात् जिन लोगोंने ब्रह्मका लेशमात्र भी आनन्द पाया है उनके निकट त्रिभुवनके राजाओं का भोग विलास निःसार देख पड़ता हैं) ॥ ७२ ॥

पातालमाविशसि यासि न भोविलंघ्यदिङ्मण्डलं भ्रमसि मानस चापलेन। भ्रान्त्यापि जातु विमलं कथ मात्मनीतं तद्ब्रह्म न स्मरसि निर्वृतिमेषि येन ॥ ७२ ॥

अरे मन ! तू अपनी चंचलताके कारण पाताल में घुसता है, आकाशका उल्लंघन करता हैं और सब दिशाओंमें भ्रमण करता है परन्तु भूले भी उस अपने ही मनमें स्थित विमल ब्रह्मका स्मरण नहीं करता जिससे तू मोक्षको प्राप्त कर सकता हैं ॥ ७२ ॥

रात्रिः सैव पुनः स एव दिवसो मत्वाऽबुधा जन्तवो धावन्त्युद्यमिनस्तथैव निभृतप्रारब्धतत्तत्क्रियाः । व्यापारैः पुनरुक्तभुक्तविषयैरेवंविधेनामुना संसारेण कदर्थिताः कथमहो मोहान्न लज्जामहे ॥ ७४ ॥

यह रात्रि वही है और यह दिन वही है ऐसा जान कर मूर्ख लोग अपने अपने कार्योंमें उसी प्रकारसे उद्यम करते हुए दौड़ते हैं । परन्तु अहा ! (कैसे खेदकी बात है कि) वारंवार कहे और भोगे हुए विषयोंसे वारंवार आरंभ की हुई उन्ही क्रियाओंको करते हुए हम इस संसारसे कदर्थित (निन्दित) होकर मोहवश लज्जाको प्राप्त नही होते । (सारांश यह है कि संसार को अनित्य और विषयोंको असार जान कर हमको विरक्तता ग्रहण करनी चाहिये) ॥ ७४ ॥

मही रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता वितानं चाकाशं व्यजनमनकूलोऽयमनिलः ॥ स्फुरद्दीपश्चन्द्रो विरतिवनितासङ्गमुदितः सुखं शान्ता शेते मुनिरतनु भूतिर्नृप इव ॥ ७५ ॥

शान्त मुनि, जिसकी पृथ्वी ही उत्तम शय्या है, भुजा

ही विपुल तकिया, विस्तीर्ण आकाश ही ओढ़ना है, अनुकूल पवन ही पंखा, चन्द्रमा ही प्रकाशमान दीपक और जिसकी विरति ही स्त्री है, वह अति ऐश्वर्यवान राजाके समान सुखपूर्वक सोता है ॥ ७५ ॥

त्रैलोक्याधिपतित्वमेव विरसं यस्मिन्महाशासने तल्लब्ध्वाशनवस्त्रमानघटने भोगे रतिं मा कृथाः । भोगाः कोऽपि स एक एव परमो नित्योदितो जृम्भते यत्स्वादाद्विरसा भवन्ति विषयास्त्रैलोक्यराज्यादयः ॥ ७६ ॥

(हे मन !) जिस ब्रह्मज्ञानसे त्रिभुवनका राज्य भी निःसार हो जाता है उसे प्राप्त करके भोजन वस्त्र मानके लिये भोगोंमें प्रीति मत कर । वही एक भोग उत्तम है और प्रकाशमान है जिसके स्वादसे विषय, त्रैलोक्यका राज्य इत्यादि सब विरस (फीके) हो जाते हैं ॥ ७६ ॥

किं वेदैः स्मृतिभिः पुराणपठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः स्वर्गग्रामकुटीनिवासफलदैः कर्मक्रियाविभ्रमैः । मुक्त्वैकं भवबन्धदुःखरचनाविध्वंसकालानलं स्वात्मानन्दपदप्रवेशकलनं शेषावणिग्वृत्तयः ॥ ७७ ॥

वेद, स्मृति पुराण और बड़े बड़े शास्त्रोंके पढ़ने से क्या ? स्वर्ग रूपी ग्रामकी कुटीमें निवासके फलको देनें वाले कर्म और क्रियाओंके विलासोंसे क्या ? संसारके बन्धन रूप दुःख रचनाके निमित्त (उत्पन्न हुई) प्रलयाग्नि के समान ब्रम्हानन्द पद प्रवेशके उद्योगके अतिरिक्त और सब वणिक् वृत्ति है (लेन देनका व्यवहार है; अर्थात् ये सब कर्म क्रिया मनुष्य फलकी आकांक्षासे ही करता है परन्तु ब्रम्हज्ञान प्राप्तिके उद्योग किसी अन्य फल प्राप्तिके लिये नहीं होते) ॥ ७७ ॥

आयुः कल्लोललोलं कतिपयदिवसस्थायिनी यौवन श्रीरर्थाः संकल्पकल्पा घनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूराः ॥ कण्ठाश्लेपोपगूढं तदपि च न चिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतं ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भव भयाम्भोधिपारं तरीतुम् ॥ ७८ ॥

आयुष्य लहरके समान चंचल है, यौवनकी शोभा थोड़े ही दिन रहने वाली है, धन मनके संकल्पके नाईं क्षणिक है, भोगके प्रवाह वर्षा कालकी विद्युत्के समान चंचल हैं और प्रियासे गले मिल कर आलिङ्गन करने का सुख चिरकाल तक नहीं रहता, अतएव अवसरके भयरूपी समुद्र को पार करने के लिये ब्रह्म में चित्त लगाओ॥७८॥

ब्रह्माण्डमंडलीमात्रं न लोभाय मनस्विनः । शफरीस्फुरतेनाब्धः क्षुब्धता न तु जायते ॥७९॥

यह ब्रह्माण्ड मण्डल मनस्वियोंको (आत्म विचारी योगियों) को लुभानेके लिये नहीं है । मछलीके उछलनेसे समुद्रमें क्षोभ प्राप्त नहीं होता (तात्पर्य यह है कि गम्भीर मनस्वी पुरुष के सन्मुख ये त्रिभुवन के सुख अति तुच्छ हैं) ॥७९ ॥

यदासीदज्ञानं स्मरतिमिरसंस्कारजनितं तदा दृष्टंनारी मयमिदमशेषं जगदपि ।इदानीमस्माकं पटुतरविवेकाञ्जनजुषां समीभूता दृष्टिस्त्रिभुवनमपि ब्रह्म तनुते ॥ ८० ॥

कामदेव के अन्धकार जनित ज्ञानके कारण यह सम्पूर्ण जगत् हमको स्त्री मय दिखाई देता था परन्तु इस समय हमारी दृष्टि विवेकरूपी अञ्जनके लगानेसे स्वच्छ हो गई हैं जिससे सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय दिखाई देता है ॥८०॥

रम्याश्चन्द्रमरीचयस्तृणवती रम्या वनान्तस्थली रम्यं साधुसमागमोद्भवं सुखं काव्येषु रम्याः कथाः । कोपोपाहितबाष्पबिन्दुतरलं रम्यं प्रिया-

याः सुखं सर्वं रम्यमनित्यतामुपगते चित्ते न किञ्चित्पुनः ॥ ८१ ॥

चन्द्रमाकी किरणें मधुर हैं, तृणयुक्त वनान्तकी भूमि सुहावनी है, साधुओंके समागमसे उत्पन्न हुआ सुख रम्य है, काव्योंकी कथा रमणीय हैं, कोपके कारण निकले आँसूके बूँदोंसे तरल प्रियाका मुख सुन्दर है-ये सब रम्य हैं परन्तु संसारकी अनित्यताका ज्ञान मनमें उत्पन्न होनेसे यह सब कुछ नहीं से (अर्थात असार) जान पड़ते हैं॥८१॥

भिक्षाशी जनमध्यसंगरहितः स्वायत्तचेष्टः सदा दानादानविरक्तमार्गनिरतः कश्चित्तपस्वी स्थितः । रथ्या क्षीणविशीर्णजीर्णवसनैः रास्यूत कन्थाधरोर्निर्मानो निरहंकृतिः शमसुखाभोगे कवद्धस्पृहः ॥ ८२ ॥

ऐसे विरले ही तपस्वी होते हैं जो भिक्षासे निर्वाह करते हैं जनोंके समुदायमें प्रीति छोड़कर रहते हैं सदा स्वाधीन चेष्टामें लगे रहते हैं, देने लेनेसे भिन्न विरक्त मार्गमें रत होते हैं, मार्गमें फटे पुराने कपड़ोंकी गुदड़ी धारण करते हैं, मान और अहङ्कारसे रहित और शम सुख (ब्रह्मानन्द के भोगमें ही उत्कट इच्छा रखते हैं ॥ ८२ ॥

मातर्मेदिनि तात मारुत सखे तेजः सुबन्धो जल भ्रातर्व्योम निबद्ध एव भवतामेष प्रणामाञ्जलिः ॥ युष्मत्संगवशोपजातसुकृतोद्रेकस्फुरन्निर्मलज्ञानापास्तसमस्तमोहमहिमा लीये परब्रह्मणि ॥ ८३ ॥

हे माता पृथ्वी ! हे पिता वायु ! हे मित्र तेज ! हे सुबन्धु जल ! और हे भाई आकाश ! मैं हाथ जोड़ तुम्हारे आगे प्रणाम करता हूँ, तुम्हारी सङ्गतिके कारण उत्पन्न पुण्यकी अधिकतासे प्रकाशमय ज्ञान द्वारा मेरी समस्त मोह महिमा दूर हो गई है और अब मैं परब्रह्ममें लय होता हूँ ॥ ८३ ॥

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः । आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान् प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ॥ ८४ ॥

अब तक वह कलेवरका घर (शरीर) स्वस्थ (निरोग) है जब तक वृद्धावस्था दूर है, जब तक इन्द्रियोंकीशक्ति न्यून नहीं हुई है और जब तक आयु क्षीण नहीं हुई है विद्वान

को चाहिये कि तभी तक अपने कल्याण के निमित्त बडे. बडे. प्रयत्न कर ले क्योंकि घरमें आग लगने पर कुंआ खोदना व्यर्थ है (अर्थात् देहेन्द्रियों के शिथिल होने पर पुरुषों से प्रबल कार्य नहीं हो सकते ॥ ८४ ॥

नाभ्यस्ता भुवि वादिवृन्ददमनी विद्या विनीतोचिता खड्गाग्रैः करिकुम्भपीठदलनैर्नाकं न नीतं यशः । कान्ता कोमलपल्लवाधररसः पीतो न चन्द्रोदये तारुण्यं गतमेव निष्फलमहो शून्यालये दीपवत् ॥ ८५ ॥

हमनें नम्रजनोंके (प्रसन्न करने) योग्य और वादियोंको परास्त करने वाली विद्या न पढ़ी, खंड के अग्र भागसे हाथियों के कुंभ पृष्ठको विदीर्ण कर स्वर्ग तक अपना यश नहीं पहुँचायाऔर चाँदनी रातमेंप्रियाके कोमल अधरपल्लवका पान न किया । तो हा ! सूने घरके दीपक की नाईं हमारा यौवन निष्फल ही हुआ ॥ ८५ ॥

ज्ञानं सतां मानमदादिनाशनं, केषांचिदेतन्मदमानकारणम् । स्थानं विविक्तं यमिनां विमुक्तये, कामातुराणा मपिकामकारणम् ॥८६॥

ज्ञान ही श्रेष्ठ पुरुषों का मान और मोह नाश करता

है और दुष्टों का मद और मान बढ़ाता है जैसे एकान्त स्थान योगियों को मुक्ति के लिये है वैसे ही वह कामियों का काम अत्यन्त बढ़ता है ॥ ८६ ॥

जीर्णा एव मनोरथाः स्वहृदये यातं जरा यौवनं हन्ताङ्गेष गुणाश्च वन्ध्यफलतां याता गुणज्ञैर्विना ॥ किं युक्तं सहसाभ्युपैति बलवान्कालः कृतान्तोऽक्षमी विज्ञा । मदनान्तकांघ्रियुगलं मुक्त्वास्ति नान्या गतिः ॥ ८७ ॥

हा! मनोरथ अपने हृदय में ही जीर्ण हो गये (अर्थात पूरे न हुए) यौवन बुढ़ापा हो गया, गुणज्ञों के विना गुण भी अंग में ही निष्फलताको प्राप्त हो गये, अब क्षमा हीन सबको नाश करनेवाला बलवान् काल (मृत्यु) सहसा आ रहा है तो क्या करना उचित है? ऐसी अवस्था में विद्वानों के लिये कामनाशक शिवजी के चरण युगल को छोड़ दूसरी कोई गति नहीं है ॥ ८७ ॥

तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभिः क्षुधार्तः सञ्शालीन्कवलयति शाकादिवलितान् । प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमाश्लिष्यति

वधू प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ॥ ८८ ॥

जब कंठ सूख जाता है तो शीतल सुगन्धित जल पीता है, जब क्षुधा से पीड़ित होता है तो शाक इत्यादि के सहित चावलों को खाता है और कामाग्नि के परितप्त होने पर स्त्रीका दृढ़ आलिंगन करता है, इस प्रकार इन (भिन्न भिन्न) व्याधियों की (प्रत्येक) औषधियों को पुरुष उलटे सुख समझता है ॥ ८८ ॥

स्नात्वा गाङ्गैः पयोभिः शुचिकुसुमफलैरर्चयित्वा विभोत्वां ध्येये ध्यानं नियोज्य क्षितिधर कुहरग्रावपर्यङ्कमूले। आत्मारामः फलाशी गुरुवचनरतस्त्वत्प्रसादात्स्मरारे दुःखान्मोक्ष्ये कदाहं तव चरणरतो ध्यानमार्गैकनिष्ठः ॥ ८९ ॥

हे स्मरारे! (कामदेव के शत्रु शिवजी), हे प्रभो! गंगाजल से स्नान कर, पवित्र जल फूलों से तेरा पूजन कर, पर्वत का कन्दरा में पर्वत की चट्टान रूपी सेजपर बैठ ध्येय (ध्यान करने योग्य) तुझमें ध्यान लगाकर, गुरुके वचन मान आत्माराम और फलाशी होकर तेरे ही चरणों में रति रख, तेरे ही ध्यान में मग्न रहनेवाला मैं दुखों संसार) से मुक्ति पाऊँगा ॥ ८९ ॥

शय्या शैलशिला गृहं गिरिगुहा वस्त्रं तरूणां त्वचः सारङ्गाः सुहृदो ननु क्षितिरुहां वृत्तिः फलैः कोमलैः। येषां निर्झरमम्बुपानमुचितं रत्यै च विद्याङ्गना मन्यन्ते परमेश्वराः शिरसि यैर्बद्धो न सेवाञ्जलिः ॥ ९० ॥

हम उन पुरुषों को परमेश्वर (तुल्य) मानते हैं जिनकी शिला शय्या है, पर्वत की कन्दरा जिनका गृह है, वृक्षों की छाल जिनके वस्त्र हैं, हरिण मित्र हैं, वृक्षों के कोमल फल खाकर जो निर्वाह करते हैं, जो झरनों का जल ही पीते हैं, विद्या रूपी स्त्रीमें जिनकी प्रीति है और जिन्होंने कभी सेवा में अपना हाथ नहीं बाँधा (प्रणाम किया) ॥ ९० ॥

सत्यामेव त्रिलोकी सरिति हरशिरश्चुम्बिनी वच्छटायां सद्वृत्तिं कल्पयन्त्यां वटविटपभवैर्वल्कलैः सत्फलैश्च। कोऽयं विद्वान्विपत्तिज्वरजनितरुजातीवदुःखासिकानां वक्त्रं वीक्षेत दुःस्थे यदि हि न विभृयात्स्वे कुटुंबेऽनुकंपाम् ॥ ९१ ॥

ऐसा त्रिलोकी सरित् (गंगाजी) के विद्यमान रहने पर जिसका कटिवस्त्र शिवजीके मस्तक को चूमता है और

जो तट इत्यादि वृक्षों से वल्कल और नाना प्रकार के अच्छे फलों से सद्वृत्ति की प्रेरणा करती है, कौन बुद्धिमान् पुरुष ऐसा है कि यदि वह अपने कुटुम्ब पर दया न करे तो कदापि वह विपत्ति रूपी ज्वर से ग्रस्त लंबी श्वांस लेती हुई स्त्रियों का मुख न देखे ॥ (सारांश यह है कि कुटुम्ब बढ़ाने की इच्छा से ही लोग गृहस्थी के जंजाल में फंसते हैं नहीं तो गंगा तटपरही सब आनन्द मिल सकते हैं)॥६१॥

उद्यानेषु विचित्रभोजनविधिस्तीव्रातितीव्रं तपः
कौपीनावरणं सुवस्त्र मभितं भिक्षाटनं मण्डनम् ।
आसन्नं मरणं च मङ्गलसमं यस्यां समुत्पद्यते
तां काशीं परिहृत्य हन्त विबुधैरन्यत्र किं स्थीयते ॥ ६२ ॥

हा ! पण्डित लोग काशी का परित्याग कर अन्यत्र क्यों बसते हैं, काशी जहां उपवनों में नाना प्रकार के भोजन बना कर खाना ही तीव्र से तीव्र व्रत है, जहाँ लंगोटी लगाना ही उत्तम वस्त्र है, भीख माँगना ही भूषण है और जहाँ मृत्यु होना ही परम मंगल उत्पन्न करताहै॥६२॥

नायं ते समयो रहस्यमधुना निद्राति नाथो
यदि स्थित्वा द्रक्ष्यति कुप्यति प्रभुरिति द्वारेषु येषां

चनः । चेतस्तानपहाय याहि भवनं देवस्य विश्वे शितुर्निर्दौवारिकनिर्दयोक्त्यपरुषं निःसीमशर्म प्रदम् ॥ ६३ ॥

रे चित्त ! ऐसे धनिकों को जिनके द्वारपर (भिक्षुकों से) द्वारपाल कहते हैं "यह तुम्हारा समय नहीं है, मभु एकान्तमें विचार कर रहे हैं, इस समय सो रहे हैं, यदि उठ कर तुमको यहाँ बैठे देखेंगे तो हम पर कुपित होंगे" उनको तुम त्याग कर विश्वेश्वर की शरण में जाओ जिनके द्वारपर कोई रोकनेवाला नहीं हैं, जहाँ कठोर और निर्दय वाक्य सुनने में नहीं आते और जो अत्यन्त सुखदाई है॥६३॥

प्रियसखि विपद्दण्डव्रातप्रतापपरम्परा परिचय चले चिन्ताचक्रे निधाय विधिः खलः । मृदमिव चलात्पिण्डीकृत्य प्रगल्भकुलालवद्भ्रमयति मनो नो जानीमः किमत्र विधास्यति ॥ ६४ ॥

हे प्रिय सखि ! (बुद्धि) यह दुष्ट विधाता चतुर कुम्हार की नाईं चिन्तारूपी चक्रपर जो विपत्तिरूपी दंडके ताड़न परम्परा से अत्यन्त चंचल है, मिट्टी के पिण्ड के समान हमारे मनको घुमाता है हम नहीं जानते कि (ऐसी अवस्था को पहुँचा कर) अब वह क्या करेगा ? ॥६४॥

महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि । तयोर्न भेदप्रतिपत्तिरस्ति मे तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे ॥ ६५ ॥

यद्यपि जगदीश्वर (शिव) और जगदन्तरात्मा जनार्दन (विष्णु) में कोई भेद जान नहीं पड़ता तो भी जिसके मस्तक में नवीन चन्द्र विराजमान है (अर्थात् शिवमें) उन्हीं में हमारी परम प्रीति है ॥६५॥

रे कन्दर्प करं कदर्थयसि किं कोदण्डटङ्कारवै रे रे कोकिल कोमलैः कलरवैः किं त्वं वृथा जल्पसि । मुग्धे स्निग्धविदग्धचपलमधुरैर्लोलैः कटाक्षैरलं चेतश्चुम्बित चन्द्रचूडचरणध्यानामृते वर्तते ॥ ६६ ॥

अरे कामदेव ! तू अपने धनुष के टङ्कारों से हाथोंको क्यों कष्ट देता है (अर्थात् हमपर अपने पुष्पबाण क्यों फेंकता है) अरे कोकिल कोमल वाणी से तू वृथा क्यों बकवाद करता है ? अरे मुग्धे ! तू अपने प्रिय, चतुर, सुन्दर मधुर और चंचल कटाक्षों को हटा ले क्योंकि मेरा चित्त चन्द्रशेखर महादेवजी के चरणों के ध्यानरूपी अमृत में निमग्न है ॥ ६६ ॥

कौपीनं शतखण्डजर्जरतरं कन्था पुनस्तादृशी नैश्चिन्त्यं सुखसाध्यभैक्ष्यमशनं निद्रा श्मशाने वने। मित्रामित्र समानताति विमला चिन्ताऽथ शून्यालये ध्वस्ताशेष मद प्रमाद मुदितो योगी सुखं तिष्ठति ॥ ९७ ॥

इस संसार में योगी ही सुखपूर्वक रहता है जिसका कौपीन सैकड़ों टुकडे होकर जर्जर हो गया है, और कन्था (कथरी) भी जिसकी ऐसी ही है, जो निश्चिन्त है, जिनको भिक्षान्न सुखसे साध्य है, जिनकी शैय्या श्मशान और वन है, जो मित्र और शत्रु से समान भाव रखते हैं, अत्यन्त शून्य स्थान में जो ध्यान (समाधि) लगाते हैं और जिनका संपूर्ण मद और प्रमाद नष्ट होगया है ॥९७॥

भोगा भङ्गुरवृत्तयो बहुविधास्तैरेव चायं भवस्तत्कस्येह कृते परिभ्रमतरे लोकाः कृतं चेष्टितैः। आशापाशशतोपशान्तिविशदं चेतः समाधीयतां कामोच्छित्तिहरे स्वधामनि यदि श्रद्धेयमस्मद्वचः ॥ ९८ ॥

अरे मनुष्यो! (इस संसार में जो) नाना प्रकार के भोग हैं वे भङ्ग वृत्ति (अर्थात् जन्म मरण के येही कारण

हैं) ऐसा जानकर भी क्यों यहाँ भ्रमण करते हो। ऐसी भोग चेष्टा से क्या फल है यदि हमारे वचन पर तुम्हारी श्रद्धा है तो सैकड़ों प्रकार के आशा पाशको तोड़ो निर्मल चित्त होकर स्वयं प्रकाशवान् कामनाशक शिवजी में सदा चित्त लगाओ ॥ ९८ ॥

धन्यानां गिरिकन्दरे निवसतां ज्योतिःपरं ध्यायतामानन्दाश्रु जलं पिबन्ति शकुना निःशङ्कम ङ्कशयाः। अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतटक्रीडा कानन केलिकौतुक जुषामायुः परं क्षीयते ॥ ९९ ॥

धन्य हैं वे पुरुष जो पर्वत की गुफाओं में रहते हैं और परब्रह्म ज्योतिका ध्यान करते हैं, जिनके आनन्द जनित आँसूके जलको पक्षिगण उनके गोदमें निडर बैठकर पीते हैं। हम लोगों की आयुष्य तो मनोरथरूपी मन्दिर में बनी बाउली के तट पर क्रीड़ा कानन में लीलाके कौतुक में क्षीण होती है (सारांश यह है कि हम लोगों का जन्म नाना प्रकार की मिथ्या कल्पना में व्यतीत होता है और मनोरथ कोई भी सिद्ध नहीं होते) ॥ ९९ ॥

आक्रान्तं मरणेन जन्म जरसा विद्युच्चलं

यौवनं संतोषो धनलिप्सया शमसुखं प्रौढाङ्गना विभ्रमैः। लोकैर्मत्सरिभिर्गुणा वनभुवो व्यालैर्नृपादुर्जनैरस्थैर्येण विभूतयोप्युपहता ग्रस्तं न किं केन वा ॥ १०० ॥

इस संसार में जन्म मृत्यु से आक्रान्त है, विद्युत्के समान चंचल यौवन बुढ़ापे से, संतोष धनकी कामना से, शान्तिका सुख सुन्दर स्त्रियों के विलासों से, गुण मत्सरता युक्त (दुष्ट) जनों से, वन सर्पों से, राजा लोग दुर्जनों से, और ऐश्वर्य अस्थिरता से आच्छादित है · सब किसी न किसी से ग्रस्त है [तात्पर्य यह है कि ब्रह्म की आराधना करो जो किसी से ग्रस्त नहीं है) ॥१००॥

आधिव्याधिशतैर्जनस्य विविधैरारोग्यमुन्मूल्यते लक्ष्मी र्यत्र पतन्ति तत्र विवृतद्वारा इव व्यापदः। जातं जातमवश्यमाशु विवशं मृत्युः करोत्यात्मसात्तत्किंनाम निरंकुशेन विधिना यन्निर्मितं सुस्थितम् ॥ १०१ ॥

पुरुषके आरोग्य (स्वास्थ्य) को नाना प्रकार की शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ जड़ से उखाड देती हैं जहाँ लक्ष्मी होती है वहाँ आपत्ति द्वार फोड़ कर आजाती

है, जो उत्पन्न होता है उनको मृत्यु बलपूर्वक शीघ्र ही अवश्य अपने वशमें कर लेती है तो यहाँ निरंकुश विधिने कौनसी वस्तु स्थिर बनाई है ॥ १०१ ॥

कृच्छ्रेणामेध्यमध्येनियमिततनुभिःस्थीयतेगर्भं वासो कान्ताविश्लेषदुःव्यतिकरविषमे यौवने चोपभोगः । नारीणामप्यवज्ञाविलसितिनियतं वृद्ध भावोऽप्यसाधुः संसारे रे मनुष्या वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित् ॥ १०२ ॥

हम लोगों को शरीर से जकड़े हुए अपवित्र गर्भ में बड़ी कठिनता से रहना पड़ता है, यौवन का उपभोग स्त्रियों के वियोगरूपी दु खके कारण अति विषम है, और वृद्धावस्था में हमको स्त्रियों से निरादर पाकर सिर नीचा किये शोच में पड़े रहना होता है । हे मनुष्यो ! इस ससार में यदि किंचित् मात्र भी सुख हो तो हमसे कहो (तात्पर्य यह है संसार असार है इसमें सुखका लेश भी नहीं है इसी कारण योगी लोग इसे छोड़ कर ब्रह्मानन्द में निमग्न होते हैं) ॥१०२॥

आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्धं गतं तस्यार्द्धस्य परस्य चार्द्धमपरं बालत्ववृद्धत्वयोः ।

शेषं व्याधि वियोग दुःखसहितं सेवादिभिर्नीयते जीवे वारितरङ्गचञ्चलतरे सौख्यं कुतः प्राणिनाम् ॥ १०३ ॥

मनुष्य की आयु सौ वर्ष की नियत की गई है, उसमें से आधा (आधा ५० वर्ष) रात्रि में सोकर व्यतीत होता है, बाकी के बचे आधे में से आधा (अर्थात् ५० का आधा २५) लड़कपन और बुढ़ापे में जाता है और अब जो बाकी बचा (अर्थात् बाकी के २५ वर्ष) व्याधि, वियोग और दुःखसहित सेवा इत्यादि में जाता है। तो (बताओ) जलके समान चंचल जीवन में मनुष्य को सुख कहाँ मिल सकता है ॥ १०३ ॥

ब्रह्मज्ञानविवेकिनोऽमलधियः कुर्वन्त्यहो दुष्करं यन्मुञ्चत्युपभोगभाञ्ज्य पिधनान्येकान्ततो निःस्पृहाः ॥ न प्राप्तानि पुरा न संप्रति न च प्राप्तौ दृढप्रत्ययोः वाञ्छामात्रपरिग्रहाण्यपि परं त्यक्तुं न शक्ता वयम् ॥ १०४ ॥

जिन (पुरुषों) की बुद्धि ब्रह्मज्ञान के विवेक से निर्मल हुई है, वे अत्यन्त दुष्कर कर्मों को करते हैं, वे निस्पृह होकर उपभोग के भाजन धनका परित्याग करते

हैं। परन्तु हमको तो ये वस्तु न पहले कभी प्राप्त हुई, न प्राप्त हैं और विश्वास है कि भविष्य में भी प्राप्त न होगी! हम इच्छा मात्र से इनका ग्रहण करते हैं, परन्तु इनका त्याग नहीं कर सकते ॥ १०४ ॥

व्याघ्रीव तिष्ठति जरा परितर्जयन्ती रोगाश्च शत्रव इव प्रहरन्ति देहम्। आयुः परिस्रवति भिन्न घटादिवाम्भो लोकस्तथाप्यहितमाचरतीति चित्रम् ॥ १०५ ॥

वृद्धावस्था बाघिनके समान डराती हुई सन्मुख खड़ी है। रोग भी शत्रु की नाई देहको पीड़ा दे रहा है और आयुष्य भी फूटे घड़ेमें के जलकी नाईं चला जा रहा है और तब भी बड़ा आश्चर्य है, कि मनुष्य ऐसे कर्म करते हैं जिनसे उनका अनहित होता है ॥ १०५ ॥

गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता भ्रष्टा च दन्तावलिर्दृष्टिर्नश्यति वर्धते बधिरता वक्त्रं च लालायते। वाक्यं नाद्रियते च बान्धवजनो भार्या न शुश्रूषते हा कष्टं पुरुषस्य जीर्णवयसः पुत्रोऽप्यमित्रायते ॥ १०६ ॥

बुड्ढे पुरुषों का शरीर सिकुड़ता जाता है, गति विग-

लित हो जाती है, दांत टूट जाते हैं, दृष्टि नष्ट हो जाती है, बहिरापन बढ़ जाता है, मुखसे लार टपकने लगती है, उनको आदर बन्धुजन नहीं करते, स्त्री सेवा नहीं करती । अहो कैसे कष्टकी बात है, इस अवस्था में पुत्र भी शत्रुके समान (अर्थात् अनहित) आचरण करने लगता है ॥ १०६ ॥

क्षणं बालो भूत्वा क्षणमपि युवा कामरसिकः
क्षणं वित्तैर्हीनः क्षणमपि च सम्पूर्णविभवः ।
जराजीर्णैरङ्गैर्नट इव वलीमण्डिततनुर्नरः संसारान्ते
विशति यमधानी जवनिकाम् ॥ १०७ ॥

यह मनुष्य क्षणमें बालक होता है, और क्षणमें काम रसिक युवा हो जाता है, क्षण में दरिद्र और क्षण ही में ऐश्वर्यसम्पन्न हो जाता है और क्षणमें जरा-जीर्ण (बुढ़ापेसे सिकुडे, हुए) अङ्गोंको देख कर फिर नटोंके समानरूप धारण करता हुआ संसार रूपी नाटक के अंगमें यमराज के नगररूप जवनिका (पर्दे) में प्रवेश करता है ॥ १०७ ॥

अहौ वा हारे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा
मणौ वा लोष्ठे वा कुसुमशयने वा दृषदि ।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यांति दिवसाः क्व
चित्पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः ॥१०८॥

कब हमारे दिन शिव-शिव जपते हुए किसी पवित्र वनों में व्यतीत होंगे जब हम सर्प अथवा हारको, बलवान् शत्रु अथवा मित्र को, मणि अथवा पाषाणको, पुष्पकी शय्या अथवा पत्थरकी चट्टानको और तृण अथवा स्त्रियोंके समूह को एक समान समझेंगे ॥ १०८ ॥

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिश्चिरं गेहिनी सत्यं मित्रमिदं दया च भगिनी भ्राता मनः संयमः। शय्या भूमितलं दशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजनम् ह्येते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे कस्माद्भयं योगिनः ॥ १०९ ॥

हे सखे ! तूही बता कि जिसका पिता धैर्य है, माता क्षमा है, भार्या शान्ति है, सत्य जिसका मित्र है, दया जिस की भगिनी है, मनः संयम (मनको रोकना) जिनका भ्राता है, भूमितल जिसकी शय्या है, दिशा जिसके वस्त्र हैं, और ज्ञान रूपी अमृत जिसका भोजन है, ये जिसके परिवार हैंउस योगीको किससे भय है (अर्थात् वह अभय है ॥ १०९ ॥

इति श्रीमद्भर्तृहरिविरचितं वैराग्यशतकं समाप्तम्।

विविध विषयकश्लोकाः।

अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः।

सदासन्तुष्ट मनसः सर्वाः सुखमयादिशः ॥११०॥

दरिद्र संयमी, शान्त और समचित्तवाले और संतोषी पुरुष को सब दिशा सुखमयी हैं (अर्थात् ऐसे पुरुष सर्वत्र सभी पदार्थों से सुख प्राप्त करते हैं) ॥ ११० ॥

अनावर्तीकालो व्रजति स वृथा तन्नगणितं
दशास्ता ताः सोढा व्यसनशत सम्पात विधुराः ॥
कियद्वावद्याम: किमिव बत नात्मन्यपकृतं त्वया
वत्तावत्पुनरपि तदेव व्यवसितम् ॥ १११ ॥

कालका प्रत्यागमन नहीं होता (बीता समय फिर नहीं आता) वह व्यर्थ गया जो तूने नहीं जाना, तूने सैकड़ों ऐसी दशाएं झेली जो आपत्तियोंसे भरी थीं तो क्या कहें तूने अपने ही बुरेके लिये क्या क्या कर्म नहीं किये ? और बारम्बार अब भी तू ऐसे ही कर्मों को करता है ॥ १११ ॥

अभिमतमहामानग्रन्थिप्रभेद पटीयसी गुरुतर
गुणग्रामाम्भोज स्फुटोज्ज्वल चन्द्रिका ॥ विपुलवि
लसल्लज्जावल्ली विदारकुठारिका जठरपिठरी दुष्पूरेयं
करोति विडम्बनम् ॥ ११२ ॥

यह उदर रूपी कढ़ाई जो बड़ी कठिनता से भरी जा सकती है, जो अभिमत बडे बडे अभिमानकी गांठको गलाने

में (काटनेमें) बड़ी चतुर है, जो गुरुतर गुणोंके समूह रूपी कमलोंको विकासने वाली चांदनी है और जो कुठारकी नाईं विशाल और देदीप्यमान लज्जा रूपी लताको काटने में समर्थ है-हमारी बड़ी विडम्बना करती है (तात्पर्य यह है कि इस उदर पूरणके निमित्त मनुष्यों को बड़े बड़े नीच कर्म करने पड़ते हैं) ॥११२॥

अश्नीमहि वयं भिक्षा माशावासो वसीमहि।
शयीमहि महीपृष्ठे कुर्वीमहि किमीश्वरैः ॥ ११३ ॥

हम भिक्षा पर निर्वाह करते हैं, दिशाओं का वस्त्र बनाते हैं (अर्थात् नंगे रहते हैं) पृथ्वी के तल पर सोते हैं; हमको सम्पत्तिवान पुरुषों से क्या प्रयोजन है ॥ ११३३ ॥

उत्तिष्ठ क्षणमेकमुद्वह गुरुं दारिद्र्यभारं सखे
श्रान्तस्तावदहं चिरं मरणजं सेवे त्वदीयं सुखम्।
इत्युक्तो धनवर्जितेन सहसा गत्वा श्मशानेशवो
दारिद्र्यान्मरणं वरं वरमिति ज्ञात्वैव तूष्णीं
स्थितः ॥ ११४ ॥

" हे मित्र ! उठो और क्षण भरके लिये इस दरिद्रता के विशाल भारका सहन करो। मैं अब थक गया हूं और जो सुख तुमने मृत्यु पाकर किया सो मैं अब पाना चाहता हूं।" धनहीन पुरुष से श्मशानपर जाकर कहने पर मुरदा

यह जानकर कि दरिद्रता से मरण भला है, चुप रह गया ॥ १४४ ॥

एकोरागिषु राजते प्रियतमा देहार्धधारी हरो नीरागेषु जनो विमुक्तललनासङ्गो न यस्मात्परः। दुर्वारस्मर बाणपन्नगविषव्याविद्धमुग्धा जनःशेषः कामविडंबितान्न विषयान्भोक्तुं न मोक्तुं क्षमः ११५

एक शिवजी ही जिन्होंने अन्य स्त्रियों का संग त्याग दिया है और जो अपनी प्रियतमा (पार्वतीजी) की आधी शरीर को धारण करते हैं अनुरागियों को प्रिय है, और तपस्वियों को भी इनसे बढ़कर और कोई देवता में श्रद्धा नहीं है । परन्तु बाकी बचे लोग (अर्थात् जो शिवका पूजन नहीं करते वे) दुर्निवार कामदेवके बाणरूपी सर्पसे डसे जाकर विषयों से व्याकुल होकर मुग्ध (पागल) हो जाते हैं और काम से विडम्बित होकर नतो विषयों का त्याग कर सकते हैं और न उनका उपभोग ही कर सकते हैं ॥११५॥

एता हसन्ति च रुदन्ति च कार्यहेतोर्विश्वास यान्ति च परं च न विश्वसन्ति। तस्मान्नरेण कुल शील समन्विते न कार्याः श्मशान घटिका इव वर्जनीयाः ॥ ११६ ॥

ये (स्त्रियाँ) अपने अभिप्राय से हँसती, रोती हैं, (दूसरों को अपने में) विश्वास दिलाती हैं परन्तु स्वयं (किसी में) विश्वास नहीं करती अतएव अच्छे कुलवाले शीलवान् पुरुष को चाहिये कि श्मशान की गगरी की नाईं इन स्त्रियों का परित्याग करें ॥ ११६ ॥

कदावाराणस्याममरतटिनी रोधसिवसन्वसानं कौपीनं शिरसि निदधानाञ्जलिपुटम् । अयेगौरी नाथः त्रिपुरहरशम्भो त्रिनयन प्रसीदेत्याक्रोशन्नि मिषमिव नेष्यामि दिवसान् ॥ ११७ ॥

कब मैं काशी में गंगाजी के किनारे पर रह कर, कौपीन पहिरे शिरपर हाथ बांध कर रक्खे (अर्थात् हाथ जोड़ो) "अरे! गौरी नाथ, त्रिपुरहर, शम्भु, त्रिनयन ? मुझपर कृपा करो" ऐसा कहते हुए निमिष के समान (क्षणभर) दिनों को व्यतीत करूंगा ॥ ११७ ॥

कार्कश्यं स्तनयोर्दृशोस्तरलतालीकं मुखेश्ला घ्यते कौटिल्यं कच सञ्चये च वचने मान्द्यं त्रिके स्थूलता । भीरुत्वं हृदये सदैव कथितं माया प्रयोगः प्रिये यासां दोष गुणो गुणो मृगदृशां ताः स्युः पशूनां प्रियाः ॥ ११८ ॥

पशु लोग ही इन मृगनयनी स्त्रियोंके दोष समुदायको गुण मानते हैं, वे इनके स्तनोंकी कठोरता को, दृष्टिकी चंचलता और मुखके झूठेपनको सराहते हैं, वालोंकी कुटिलता वाणी की मन्दता और कटिकी स्थूलता इन्हें माननीय है, और हृदय की कादरता और अपने प्रियोंके प्रति इनके कपटके प्रयोग को सदा वखानते हैं ॥ ११८ ॥

क्वचिद्वीणा वादः क्वचिदपि च हाहेति रुदितं क्वचिद्विद्वद्गोष्ठी क्वचिदपि सुरामत्तकलहः । क्वचि द्रामा रम्याः क्वचिदपि गलत्कुष्ठ वपुषो न जाने संसारः किमस्मृत मयः किं विपमयः ॥ ११९ ॥

कहीं तो वीन वज रही है कहीं हाहाकार रोलाई हो रही है, कहीं तो पंडितोंकी वात चीत और कहीं सुरा (शराव) से उन्मत्त होकर कलह हो रहा है, कहीं तो सुन्दर स्त्रियां हैं और कहीं शरीर गले हुए कोढ़ी हैं—नजाने यह संसार अमृतमय है अथवा विपमय ही है ॥ ११९ ॥

गात्रैर्गिरा च विकलश्चटु मीश्वराणां कुर्वन्नयं प्रहसनस्य नटः कृतोसि । तं त्वां पुनः पलित कर्णकभाजमेनं नाट्येन केन नटयिष्यति दीर्घमायुः ॥ १२० ॥

तुम टेढ़ी मेढ़ी शरीरसे और लड़खड़ाती हुई वाणी से धनाढ्यों के प्रहसनके पात्र बन गये हो (हास्यरस प्रधान नाटकको प्रहसन कहते हैं) फिर न जाने दीर्घ आयुष्य तुम्हारे बाल पक जाने पर क्या क्या नाच नचावेगी (तात्पर्य यह है कि जब युवा अवस्था तुमने धनिकोंको व्यर्थ प्रशंसा में व्यतीत की है तो अब तुम वृद्धावस्थामें क्या कर सकोगे) ॥ १२० ॥

चलालक्ष्मीश्चला प्रणाश्चलं जीवित यौवनम्। चलाचले च संसारे धर्म एकोहि निश्चलः॥२१॥

इस चल संसार में लक्ष्मी, प्राण, जीवन, यौवन सभी चल हैं (अर्थात् सदा एक ही अवस्थामें नहीं रहते) केवल धर्म ही निश्चल है (जो मदा रहता है और जिसका कभी नाश नहीं होता) ॥ १२१ ॥

चेतश्चिन्तय मास्मा स कृदिमामस्थाविनी मास्थया भूपालभ्रुकुटी कुटी विहरणव्यापार पण्या ङ्गनाम्। कन्थाकञ्चुकिताः प्रविश्य भवन द्वाराणि वराणसी रथ्या पङ्क्तिषु पाणिपात्रपतितां भिक्षा मपेक्षामहे ॥ १२२ ॥

अरे चित्त! एक बार भी तू इस अस्थायी धनकी उत्कट

चिन्ता मत कर जो वेश्याकी नाईं राजाओं के भौंरूपी गृह में विहार करती है। अब हम (धनकी अभिलाषा को छोड़ कथरी धारण करके, काशी की गलियों में गृहोंके द्वार पर हाथ रूपी पात्रों में भिक्षा मिलने की अभिलाषा करते हैं ॥ १२२ ॥

जातः कूर्मः स एकः पृथुभुवनभरायार्पितं येन पृष्ठं श्लाघ्यं जन्म ध्रुवस्य भ्रमतिनियमितं यत्रते जश्विचक्रम् । सञ्जातव्यर्थपक्षाः परहितकरणेनो परिष्ठान्नचाधो ब्रह्माण्डो दुम्बरान्त.शकवद.रे जन्तवोजातनष्टाः ॥ १२३ ॥

एक कच्छपजीका जन्म सफल है जो जिन्होंने इस विपुल संसार का भार अपनी पीठ पर लिया है, ध्रुव नक्षत्रका जन्म सराहनीय है जिसके कारण यह तेजस्विक (अर्थात् नक्षत्रोंका समुदाय) नियम पूर्वक घूमता है। इस संसार में दूसरे जन्तु (जो परोपकार नहीं करते) गूलरके फलके कीड़ों की नाईं हैं जिनको पर व्यर्थ ही जमते हैं) मनुष्य पक्षमें जिनकी सम्पत्ति और जिनका पराक्रम दूसरों के उपयोग में नहीं आता) जिनका जन्म और मरण समान है और जब वे दूसरोंका उपकार करते तो नहीं

उनके लिये यह संसार और दूसरा भी (स्वर्ग) नष्टही है ॥ १२३ ॥

तुङ्गं वेश्म सुताः सतामभिमताः संख्यातिगाः सम्पदः कल्याणी दयिता वयश्च नवमित्यज्ञान मूढोजनः । मत्वा विश्वमनश्वरं विनिशतैः संसार कारागृहे संदृश्य क्षणभङ्गुरं तदखिलं धन्यस्तु सन्यस्यति ॥ १२४ ॥

अज्ञानी मूर्ख मनुष्य ऊंचे घर, सज्जनोंको प्रिय पुत्र, असंख्य सम्पत्ति, सुन्दर स्त्री और नया यौवन देख भूमंडलको नित्य जानकर इस संसार रूपी कारागार में प्रवेश करते हैं परन्तु धन्य पुरुष इन सबको क्षणभंगुर (क्षणमें नष्ट होने वाले) जानकर सन्यास ले लेते हैं ॥ १२४ ॥

ददतु ददतुगाली गालिमन्तो भवन्तो वद मपि तदभावाग्गालिदाने समर्थः । जगति विदितमेतद्दीयते विद्यमानं नहि शशकविषाणं कोपि कस्मैददाति ॥ १२५ ॥

आप लोग गाली देने वाले हो जितनी गाली मन हो दो, हम तो गाली जानते ही नहीं, अतएव गाली देने में

समर्थ नहीं है। संसार में यह प्रसिद्ध है कि जिसके पास जो विद्यमान है वही वह दे सकता है। खरहे की सींग भला कोई किसी को दे सकता है?॥ १२५॥

न भिक्षादुष्प्रापा पथि मम महारामचरिते फलैः सम्पूर्णा भूर्विटपिमृगचर्मापिवसनम्। सुखैर्वा दुःखैर्वा सदृशपरिपाकः खलु तदा त्रिनेत्रं कस्त्यक्त्वा धनलवमदान्धं प्रणमति॥ १२६॥

जब मेरे मार्गमें बड़े, बटे, उद्यान विद्यमान हैं, पृथ्वी फलोंसे भरी है और मृगके चर्म वस्त्रको हैं तो फिर भिक्षा दुष्प्राप्य नहीं हैं और तब तो सुख और दुःखका एकही परिणाम है। ऐसी स्थिति होने पर कौन शिवजीको छोड़ थोड़े धनसे मदान्ध पुरुषको प्रणाम करेगा? ॥ १२६॥

नो खड्गप्रविदारिताः करटिनो नोद्वेजिता वैरिणस्तन्वङ्ग्या विपुले नितम्बफलके न क्रीडितं लीलया। नो जुष्टं गिरिराजनिर्झर झणज्झङ्कार कारं पयः कालोऽयं परपिण्डलोलुपतया काकैरिव प्रेरितः॥ १२७॥

हमने न तो हाथियोंको काट डाला, न शत्रुओंको कष्ट दिया और न तन्वङ्गी के बृहत् नितंब पर लीलासे क्रीड़ा

किया और न हिमालयके शब्दवान् झरनोंका जल पिया, हमने यह काल कौवोंकी नाई दूसरों से टुकड़ा पानेकी इच्छासे (व्यर्थ) ही विताया ॥ १२७ ॥

परिभ्रमसि किं वृथा क्वचन चित्त विश्राम्यतां स्वयं भवति यद्यथा भवति तत्तथा तान्यथा। अतीतमपि न स्मरन्नपि च भाव्य सङ्कल्पयन्नत र्कितगमागमननुभवस्व भोगानिह ॥ १२८ ॥

अरे चित्त! वृथा इधर उधर क्यों घूमता है, विश्राम ले (क्योंकि) जो होने वाला है वह स्वयं ही वैसा ही होता है अन्यथा नहीं होता। बीती हुई बातका स्मरण और होने वाली का संकल्प न करके तू इस संसार में ऐसे फलोंका अनुभव करता है जिसका आना जाना पहिलेसे नहीं जाना जा सकता ॥ १२८ ॥

पाणि पात्रयतां निसर्ग शुचिना भक्ष्येण सन्तु ष्यतां यत्रक्वापि निषीदतां बहुतृणं विश्वं मुहुः पश्यताम्। अत्यागोपि तनोरखण्ड परमानन्दा-वबोधस्पृहां मर्त्यः कोपि शिवप्रसाद सुलभां सम्पत्स्यते योगिनाम् ॥ १·६ ॥

(इस मृत्यु लोकमें) कोई ऐसा भी मनुष्य है जो शरी

रके न त्याग करने पर भी (अर्थात् इस संसार में हीरहकर) उस अखण्ड और परमानन्द ज्ञानकी लालसा करता है जो शिवजी के प्रसादसे सहज ही मिल सकता है और जिसको योगी लोग हाथका पात्र बनाकर स्वाभाविक स्वच्छ भिक्षा पाये हुए अन्नसे सन्तुष्ट होकर, बारम्बार संसारको तृणके समान देखते हुए जहाँ कहीं (इच्छा हुई वहीं) बैठकर (योग द्वारा) प्राप्त करते हैं॥ १२९॥

प्रशान्तशास्त्रार्थविचारचापलं निवृत्त नानारसकाव्यकौतुकम् । निरस्तनिः शेषविकल्पविस्तरं प्रपत्तु मन्विच्छति शङ्करं मनः॥ १३०॥

शान्त शास्त्रार्थके विचार में लगा हुआ (अर्थात् ब्रह्म ज्ञानका चिन्तन करता हुआ) यह मन नाना प्रकारके रसोंसे भरे काव्य कौतुकोंको छोड़ और उनसे उत्पन्न अनेक सन्देहों को दूर करके शंकरमें जानेकी इच्छा करता है॥ १३०॥

पातालान्न विमोचितोवतबलीनीतो न मृत्युः क्षयं नो मृष्टं शशिलाञ्छनं च मलिनं नोन्मूलिता व्याधयः । शेषस्यापि धरां विधृत्य न कृतो भारावतारः क्षणं चेतः सत्पुरुषाभिमानमनिशं मिथ्यावहत्खिद्यते॥ १३०॥

तुमने बली को पाताल से नहीं छुड़ाया, मृत्युका क्षय नहीं किया चन्द्रके लांछनको नहीं मिटाया, व्याधियोंको जड़से नहीं उखाड़ा और शेष नागका पृथ्वी उठाने का भार क्षण भरके लिये भी हलका न किया; हे चित्त! तू दिन रात सज्जन होनेके झूठे घमण्डसे वृथा पीड़ित होता है ॥ १३१ ॥

फलं स्वेच्छालभ्यं प्रतिवनमखेदं क्षितिरुहां पयः स्थाने स्थाने शिशिर मधुरं पुण्यसरिताम् । मृदुस्पर्शा शय्या सुललितलता पल्लवमयी सहन्ते सन्तापं तदपि धनिनां द्वारि कृपणाः ॥१३२॥

(जब) प्रत्येक वनमें वृक्षोंके फल अपने इच्छानुसार विना कष्टके मिल सकते हैं, (जब) स्थान स्थान पर ठण्डी मधुर जलवाली पुण्य नदियाँ मिल सकती हैं और (जब) सुन्दर लतापत्रादिकी बनी सेज छूनेमें कोमल होती है (तो) नीच ही पुरुष धनाढ्यों के द्वारपर सन्ताप सहते हैं ॥ १३२ ॥

भव्यं भक्तं ततः किं कदशनमथवा वासरान्ते ततः किं कौपीनं वा ततः किं किमथ सित महच्चामरं वा ततः किम् । एका भार्या ततः किं

शतगुणगुणिता कोटिरेका ततः किं त्वेकोभ्रान्तस्त तःकिं करितुरगशतैर्वेष्टितो वा ततः किम्॥ १३२॥

यदि दिनके अन्तमें (रात्रिको) उत्तम चावलका भात भोजनको मिले तो क्या और बुरा अन्न मिले तो भी क्या? कौपीन (लंगोटी) पहिरने को हो तो क्या और लम्बा चौड़ा पीताम्बर हो तो भी क्या? एक भार्या हो तो क्या और सैकड़ों गुणोंसे युक्त करोड़ों हों तो भी क्या? अकेला ही भ्रमण करें तो क्या और यदि सैकड़ों हाथी और घोड़ोंसे घिरे हुए घूमें तो भी क्या? (योगियोंको ये सब समान हैं) ॥ १३२ ॥

भिक्षा कामदुघा धेनुः कन्था शीतनिवारिणी। अचला तु शिवे भक्तिर्विभवैः किं प्रयोजनम् ॥ १३३ ॥

जब भिक्षा कामधेनु है अर्थात् जब भिक्षासे ही तृप्ति होती है) कथरी जाड़ेको हटाती है और शिवमें अचल भक्ति है तो विभवसे क्या प्रयोजन है (अर्थात् धन, सम्पति ऐसी अवस्थामें व्यर्थ है) ॥१३३॥

भिक्षाहारमदैन्यमप्रतिसुखं भीतिच्छिदं सर्वदा दुर्मात्सर्यं मदाभिमानमथनं दुःखौघविध्वंसितम्।

सर्वत्रान्वहमप्रयत्नसुलभं साधुप्रियं पावनं शम्भोः
सत्रमवार्यमक्षयनिधिं शंसन्ति योगीश्वराः॥१३४॥

योगीश्वर लोग कहते हैं कि शिवजीके पूजनमें ऐसी निधि है जिसका निवारण कोई नहीं कर सकता और जिसका क्षय कभी नहीं होता—ऐसा पूजन जिसमें अनुपम सुख है, जो भयको हटा देता है, जो द्वेषसे उत्पन्न हुए अभिमानका ध्वंस करता है, दुःखके प्रवाहको रोकता है साधुओंको प्रिय है और जो सदा सर्वत्र सुखसे मिल सकता है ॥ १३४ ॥

भूः पर्यङ्को निजभुजलता कन्दुकं खं वितानं
दीपश्चन्द्रो विरतिवनितालब्धसङ्गप्रमोदः। दिक्का
न्ताभिः पवनचमरैर्वीज्यमानः समन्ताद्भिक्षुः शेते
नृपइव भुवि त्यक्तसर्वस्पृहोऽपि ॥ १३५ ॥

संन्यासी अपनी सब आकांक्षाको त्यागकर राजाकी नाईं (निःशङ्क होकर आनन्दसे) पृथ्वीपर सोता है,—पृथ्वी उसकी सेज है, भुजा तकिया, आकाश ओढ़ना, चन्द्रमा दीपक है, वह विरति (वैराग्य) रूपी स्त्रीके संगका आनन्द लेता है और दिशारूपी स्त्रियाँ पवनरूपी चंवरोंको उसके ऊपर डुलाती हैं ॥१३५॥

भोगास्तुङ्गतरङ्गभङ्गचपलाः प्राणा क्षणध्वंसि निस्तोकान्येव दिनानि यौवनसुखं प्रीतिः प्रियेष्व स्थिरा। तत्संसारम ारमेव निखिलं बुद्ध्वा बुधा बोधका लोकानुग्रहपेशलेन मनसा यत्नः समाधी यताम् ॥ १३६ ॥

हे पण्डित लोग! भोग, बड़ी बड़ी लहरोंके टूटनेके समान चंचल हैं, प्राण क्षणमें नष्ट होनेवाले हैं, यौवन का सुख थोड़े ही दिन रहनेवाला है, प्रिय लोगोंसे प्रीति भी स्थिर नहीं है, अतएव सम्पूर्ण संसारको निःसार जानकर तुम लोगोंके उपकार करनेमें अपने मनको यत्न पूर्वक लगाओ ॥ १३६ ॥

यद्वक्त्रं मुहुरीक्षसे न धनिनां ब्रूषे न चाटुं मृषा नैषां गर्वगिरः शृणोषि न पुनः प्रत्याशया धावसि। काले बाल तृणानिखादसि सुखं निद्रापि निद्रागमे तन्मे ब्रूहि कुरङ्ग कुत्रभवता किं नाम तप्तं तपः ॥ १३७ ॥

अरे हरिण! तूने किस नामका तप कहाँ किया कि जो तुझे वारम्वार धनियोंका मुख नहीं देखना पड़ता, न झूठी स्तुतिके वचन बोलने पड़ते हैं; तू इनकी गर्वीली वाणी

नहीं सुनता और न किसी आशासे तुझे इनके पास दौड़ना पड़ता है तू समय पर (अर्थात् भूख लगने पर) कोमल तृणको खाता है और नींद आने पर सुखसे सोता है [सारांश यह है कि वनमें रहनेवाली वहाँ सभी प्रकारके सुख लभ्य हैं] ॥१३७॥

वर्णं सितं शिरसिवीक्ष्य शिरोरुहाणां स्थानं जरा परिभवस्य यदेव पुंसां। आरोपितास्थिशकलं परिहृत्य यान्ति चाण्डाल कूपमिव दूरतरं तरुण्यः ॥ १३८ ॥

तरुणी स्त्रियाँ पुरुषोंके शिरपर बालोंको श्वेत देख, जो पुरुषोंके वृद्धावस्थासे परिभव होने का स्थान है [अर्थात् वृद्धावस्थाका आगमन प्रायः शिरके बालोंके श्वेत होनेसे ज्ञात होता है) छोड़ देती हैं जैसे वे किसी कुएं पर हड्डीका टुकड़ा देख उसे चाण्डालका कूप जान छोड़ कर दूर भागती हैं ॥ १३८ ॥

समारम्भा भग्नाः कतिन कतिवारांस्तवपशो पिपासोस्तुच्छेऽस्मिन्द्रविण मृगतृष्णार्णवजले॥तथापिप्रत्याशा विरमति न तेद्यापि शतधा न दीर्णं यच्चेतो नियतमशनिग्रावघटितम् ॥ १३९ ॥

अरे पशु ! इस धनरूपी मृगतृष्णाके समुद्रके जलमें तेरे प्यासेके कितनी बार कर्मके आरम्भ भग्न नहीं हुए (अर्थात् कितनी बार तूने धन उपार्जनके निमित्त नाना प्रकारके कर्मोंका आरम्भ किया परन्तु अन्तमें कुछ धन प्राप्ति न हुई) परन्तु अब भी तेरी आशा नहीं टूटी, तेरा हृदय निश्चय करके वज्रहीका बना है जो अब भी सैकड़ों टुकड़े नहीं हो जाता ॥१३९॥

सिंहोबली द्विरदशूकरमांसभोजी संवत्सरेण रतिमेति किलैकवारं॥ पारावतः खरशिलाकणमात्र भोजी का..। भवत्यनुदिनं वद कोत्र हेतुः ॥१४०॥

यह प्रसिद्ध है कि बलवान सिंह जो हाथी और शूकर का मांस खाता है सालमें एक बार रति करता है परन्तु कबूतर जो पत्थरोंके बड़े टुकडोंको खाता है, प्रतिदिन कामी बना रहता है, भला बताओ इसका क्या कारण है (उत्तर-पहिलेमें महत्व है और दूसरा नीच है) ॥१४०॥

स्थितिः पुण्येऽरण्ये सह परिचयो हन्त हरिणः फलैर्मेध्यावृत्तिः प्रतिनदि च तल्पानि दृषदः। इतीयं सामग्री भवति हरभक्तिं स्पृहयतां वनं वा गेहं वा सदृशमुपशान्त्येकमनसाम् ॥ १४१ ॥

अहा ! पुण्य वनमें वास, हरिणों से मैत्री, फलोंही से शुद्ध वृत्ति, और प्रत्येक नदीके तटपर पाषाणकी शय्या—जो लोग हरिमें भक्तिकी लालसा रखते हैं उनको ये ही सामग्री हैं। जिनका मन वैराग्यमें लीन है उनके लिये गृह और वन दोनोंमें वास करना समान है ॥१४१॥

स्वादिष्टं मधुनो घृताच्च रसवद्यत्प्रस्रवत्यक्षरं
दैवी वागमृतात्मनो रसवतस्तेनैव तृप्ता वयं। कुक्षौ
यावदिमे भवन्ति धृतये भिक्षाहृताः सक्तवस्ताव
दास्यकृतार्जनैर्न हि धनैर्वृत्तिं समीहामहे ॥१४२॥

हम साक्षात् वाग्देवी (सरस्वती देवी) के मुखसे निकले हुए अमृतमय उन अक्षरोंसे (अर्थात् उपनिषदोंसे) सन्तुष्ट हैं जो मधु अथवा घृतसे भी स्वादिष्ट हैं और जब तक हमारे पास इस शरीरके धारण करनेके लिये भिक्षासे उपार्जित सत्तू हैं तबतक हम सेवासे कमाये धन पर अपना निर्वाह नहीं करना चाहते ॥ १४२ ॥

इति श्री महाकविवर भर्तृहरिविरचितं तृतीयं।
वैराग्यशतकं समाप्तम् ॥

॥ इति ॥

समाप्तोयग्रन्थः।